...स्थापक सम्पादक
...योगेश्वर अनन्त श्री
...चन्द्रमोहन जी महाराज

सिद्धयोग

दिसम्बर १९८१

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।
—भगवद्गीता ८-२७

वर्ष: २४

अंक : ९

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
संवाई, आगरा

प्रकाशक
सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

दिसम्बर
१९९१

इस अंक में पढ़िए

लेख	पृष्ठ
★ शुभद्रश्रवसे नमो नमः (प्रार्थना)	१
★ साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर (विशेष लेख) .. —ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
★ तीन एषणाएँ (सम्पादकीय)	५
★ रमता जोगी बहता पानी .... —योगी रमताराम	७
★ मिट्टी और उसकी उपयोगिता .... —श्री कृष्णानन्दजी महाराज	१०
★ भक्ति : एक दार्शनिक चिन्तन .... —आचार्य विनोबा	१२
★ झाँसी योग मण्डल का पञ्चदश सम्मेलन	१४
★ ध्यानदीप-प्रज्ञालोक .... —आचार्य दासलाल शर्मा	१७
★ सद्गुरु और उनकी महान् सम्पदा .... —ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल	२०
★ ध्यान-योग .... —आचार्य डा० श्री शुकरत्नजी उपाध्याय	२६
★ कर्मयोग और कर्त्तव्य-पालन .... —एक योग साधक की लेखनी से	२९
★ जानिए और समझिए .... —श्रीमती कमलेश कुमारी एम. ए.	३४
★ पुनर्जन्म की एक सत्य घटना .... —डॉ० श्री वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी	३५
★ द्वन्द्वातीत योगी .... —स्वामी प्रभुपादजी महाराज	३८
★ सत्यं-शिवं-सुन्दरम् .... —स्वामी विरजानन्द सरस्वती	४७

एक प्रति ६ रु०, वार्षिक मूल्य ४५ रु० ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराँई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २४ अङ्क ९	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्नु च विमरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थं बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥	दिसम्बर १९९१

-: सुभद्रश्रवसे नमो नमः :-

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो,
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमंगलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना तदर्पणं,
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥

अर्थात्

बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मन्त्र-वेत्ता जब तक अपनी साधनाओं को तथा अपने आपको उनके चरणों में समर्पित नहीं कर देते, तब तक उन्हें कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। जिनके प्रति आत्म-समर्पण की ऐसी महिमा है, उन कल्याणमयी कीर्ति वाले भगवान् को बार-बार नमस्कार है।

विशेष लेख :—

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी
महाराज

प्र०—हे गुरुदेव ! कृपया करके यह बतलाइये कि "ईश्वर प्रणिधान" किसे कहते हैं और उससे समाधि किस प्रकार प्राप्त हुआ करती है ?

उत्तर—हे सौम्य ! प्रातः स्मरणीय भगवान व्यासदेवजी महाराज ने अपने भाष्य में ईश्वर-प्रणिधान की व्याख्या करते हुए लिखा है—

सर्वक्रियाणां परम गुरावीश्वरे अर्पणं तत्फल संन्यासो वा ।

अर्थात्—अपने समस्त कर्मों को तथा उनके फल को ईश्वर के अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। यही बात अखिल लोकनायक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी गीता में कही है—

यत्करोषि यदश्नासि, यद्ददासि जुहोषि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।
शुभ शुभफलैरेवं, मोक्ष्यसे कर्म बन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।

हे अर्जुन ! तू जो कुछ भी करता है, जो खाता है, जो दान देता है, जो भजन करता है, जो तप करता है वह सब मुझ परमेश्वर के अर्पण कर दे।

इस प्रकार कर्मों को ईश्वर को समर्पण करने रूप संन्यास योग से युक्त हुए मन वाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धन से मुक्त होकर मेरे को ही प्राप्त हो जायेगा।

भगवान श्री पतञ्जलिदेवजी महाराज ने भी "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" तथा "समाधिसिद्धि ईश्वर प्रणिधानाद्" आदि इन सूत्रों में ईश्वर प्रणिधान का फल समाधि सिद्धि बतलाया है।

ईश्वर प्रणिधान कैसे हो सकता है ? इस बात को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ।

तज्जपस्तदर्थ भावनम् ।

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

अर्थात् उस ईश्वर का प्रणव वाचक (ॐकार) है। अतः साधक को प्रणव का जप करना चाहिए और उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करने से साधना में

पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी महाराज के पास अनेक साधक भाई-बहन अपनी जिज्ञासाएँ भेजा करते थे, जिनका यथोचित समाधान गुरुदेवजी 'सिद्धलोक' द्वारा किया करते थे। यह लेख साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर उन्हीं जिज्ञासाओं और उनके समाधान की एक कड़ी है, जिसे पाठकों के लाभार्थ हम यहाँ दे रहे हैं। —सम्पादक

आने वाले विघ्न दूर होते जाते हैं और परमात्मा का प्रकाश मिल जाता है।

प्र०—हे गुरुदेव ! ईश्वर के नाम तो अनेक हैं। क्या उनके जप से भी प्रभिभाव हो सकता है या कि प्रणव जप से ही ऐसा होना सम्भव है ?

उत्तर—हे वत्स ! नाम और नामी का अभिन्न सम्बन्ध है। ईश्वर के सभी नाम एक-से हैं, किसी को बड़ा छोटा नहीं कहा जा सकता। फिर भी प्रणव (ॐ) ईश्वर का वेदोक्त नाम होने से सबसे पवित्र माना गया है, अतः इसके जप का विधान किया गया है। शास्त्रों में स्थान-स्थान पर प्रणव महिमा का वर्णन मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने प्रणव का महत्व बताते हुए लिखा है :—

अदृष्ट विग्रहो देवो
भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योङ्कार स्मृतो नाम
तेनाहूतः प्रसीदति ॥

अदृष्ट विग्रह देव जो अव्यक्त हैं, मन की धारणा से जिनका चिन्तन किया जाता है उन परम पुरुष का नाम ॐ है। ओम् शब्द का उच्चारण करने से वह अव्यक्त आत्मा प्रसन्न होता है—

प्रणवो वाचकस्तस्य
शिवस्य परमात्मनः।
शिवरुद्रादि शब्दानां
प्रणवो हि परः स्मृत ॥

भगवान सदाशिव का बोधक नाम ही ओम् है। शिव रुद्रादि शब्दों में उनका बोध कराने वाला नाम प्रणव ही प्रमुख है और इन प्रणव रूप महेश्वर में करोड़ों रुद्र, ब्रह्मा व विष्णु का समावेश है।

कठोपनिषद् के निम्नांकित मन्त्रों में भी प्रणव की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म
एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो
यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठं
एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा
ब्रह्मलोके महीयते ॥

यह अविनाशी ॐकार ही परमात्मा का स्वरूप है और यही परब्रह्म परमेश्वर है। अतः इस तत्व को समझकर साधक जो भी चाहे उसे प्राप्त कर सकता है।

यह ॐकार ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इससे बढ़कर और कोई आलम्बन नहीं है। अर्थात् परमात्मा के श्रेष्ठ नाम की शरण ही लेना ही उसकी प्राप्ति का एक अमोघ साधन है। इस रहस्य को समझकर जो साधक श्रद्धापूर्वक प्रणव का जप करता है वह परमात्मा को पा जाया करता है। अतः साधक को चाहिए कि वह निरन्तर प्रणव का जप करता रहे। जप करते-करते जब थक जाय तो नित्य चेतन परमात्मा का ध्यान करे। क्योंकि हमारे शास्त्रों का आदेश है—

जप श्रान्तः शिवं ध्यायेत्
ध्यान श्रान्तः शिवं जपेत्।
जप ध्यान समोयुक्तः
परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

योगदर्शन के सूत्र 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' की व्याख्या करते हुए श्री व्यासदेवजी महाराज ने अपने भाष्य में लिखा है—

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना, तदस्य योगिनः प्रणव जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते ।

अर्थात् प्रणव का जाप करने से और उसके अर्थस्वरूप ईश्वर का ध्यान करने से योगी का चित्त अनायास ही एकाग्र हो जाता है ।

इस प्रकार ईश्वर के वाचक प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का निरन्तर जप करना, अतिशय श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक उसका चिन्तन करते रहना, अपने समस्त कर्मों एवं उसके फल को ईश्वर के अर्पण कर देना तथा अपने को सर्वतोभावेन अपने इष्टदेव के हवाले कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। जहाँ इस प्रकार का प्रणिधान अर्थात् पूर्ण आत्म-समर्पण हो जाय वहाँ अविलम्ब समाधि-लाभ हो जाया करता है। 'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ।' इस सूत्र पर अपने भाष्य में श्री व्यासदेव जी महाराज ने लिखा है—

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित: अभिमुखीकृत ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेणइदमस्याभिमतमस्तुरिति ।

अर्थात् प्रणिधान से—भक्ति विशेष से अभिमुख किया गया ईश्वर उस साधक पर अनुग्रह करता है और उसके लिए यह संकल्प करता है कि इसकी अमुक मनोकामना पूरी हो जाये। ईश्वर के संकल्प से उसे तत्काल मनवाञ्छित वस्तु (समाधि) प्राप्त हो जाती है।

—: विचार-कण :—

★ कोई किसी को निरर्थक मार रहा है, तो कोई किसी को बचाने हेतु स्वयं मर ही रहा है।

★ अंधेरे में ऐसा काम भी कर बैठते हैं जिसकी उजाले में कल्पना भी नहीं की होती है।

★ स्वर्ण सूत्र से अधिक मूल्यवान् होता है स्नेह-सूत्र।

★ यह शरीर नहीं छूटे, यह विचार सबको है, किन्तु इसका दुरुपयोग छूटे यह विचार कितनों को है ?

★ संसार में सौन्दर्य बहुत है, किन्तु सब पर स्वामित्व की चाह पूरी नहीं होती।

★ कैसा रंग का आकर्षण ? उसे हम वस्तुओं में मिलाकर खाते और पीते भी हैं।

★ समय जब जिन्दगी के खर्च का हिसाब मांगता है तो व्यक्ति आँसू बहाने लगता है।

★ चमड़ी की मोटी तहें भी चिन्ता की छोटी-सी चिनगारी नहीं सह पाती हैं।

★ भोग, संयोग-वियोग—सुख भी देते हैं और दुःख भी।

★ सुख-दुःख का एकमात्र कारण है—प्रतिक्रिया।

—शंकरलाल मेहता
(प्रेक्षाध्यान से साभार)

सम्पादकीय—

तीन एषणायें

भारतीय दर्शन में तीन एषणाओं का वर्णन मिलता है जो मनुष्य को मोक्ष अथवा सिद्धि के चरम लक्ष्य तक पहुँचने में तीन विशाल शिलाखण्डों के समान सदा बाधक बनी रहती हैं। जो इन शिलाखण्ड रूपी एषणाओं को हटाने की कला जानते हैं या इनकी उपेक्षा करते हुए जीवन-पथ पर जाग्रत और प्रयत्नशील रहकर चल पड़ने का साहस तथा धैर्य जुटा पाते हैं, उनका ये एषणाएं कुछ भी बिगाड़ नहीं पातीं। वित्तेषणा, पुत्रेषणा, और लोकेषणा—यही नाम है इन एषणाओं का जिनसे ये इस जगत में जानी जाती हैं। एषणा का शाब्दिक अर्थ होता है चाहना। ऐसी चाहना जो मनुष्य के अन्तर में अत्यधिक गहराई तक उतर कर अपना आसन जमाये रहती है। 'योगदर्शन' में वर्णित पंच क्लेशों में, जैसे अभिनिवेश क्लेश बहुत गहराई में मनुष्यों के मनों में समाया रहता है—वैसे ही ये तीनों एषणायें भी बहुत गहराई तक मानस-पटल में समायी रहती हैं।

कौन नहीं चाहता कि उसके पास जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त वित्त न हो, कौन नहीं चाहता कि उसका घर-आंगन, पुत्र, पौत्र, और प्रपौत्र तथा प्रपौत्रियों से भरा हुआ न रहे। और कौन यह नहीं चाहता कि उसे समाज में ऊँचे से ऊँचा पद, प्रतिष्ठा व सम्मान प्राप्त हो? सबकी यही चाहना रहती है कि ऊँची कुर्सी या आसन उसे प्राप्त हो, उसीकी बात या वचन ऊँचा रहे। हरजगह उसका आदेश ही आदर के साथ माना जाय। यही तीन एषणायें हैं जो वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणा कहकर पुकारी जाती हैं। वैसे तो यह तीनों ही जीव को सांसारिक बन्धन में जकड़ने वाली हैं लेकिन इनमें सबसे भयानक और सर्वनाश कर देने वाली जो एषणा है वह है लोकेषणा।

वित्तेषणा और पुत्रेषणा से मुँह मोड़कर जंगल की ओर मुड़ जाने वाले आरण्यकों की कमी यहाँ देखने में नहीं आती। 'नारि मरी घर सम्पत्ति नाशी, मूँड़ मुड़ाय भये संन्यासी' जैसी कहावत ऐसे ही व्यक्तियों की बाहुल्यता के कारण चल पड़ी है। इस कहावत का आशय यही है कि जीवन की परिस्थितियों से विवश होकर वित्तेषणा और पुत्रेषणा का परित्याग करने वालों का अभाव तो यहाँ देखने में नहीं आता। पर, लोकेषणा का त्याग कर देने वाले कम लोग ही देखने में आते हैं। जो लोक में बहुसंख्यकों द्वारा प्रदत्त मान-सम्मान अथवा प्रभुता और प्रतिष्ठा पा जाने पर भी उससे निर्लिप्त और उदासीन रहकर केवल कर्तव्य-पालन के लिए पदों को स्वीकार करते हैं, लोकसेवा का लक्ष्य ही जिनके

सामने रहता है ऐसे व्यक्तियों को ही हम लोकेषणा का त्यागी कहकर पुकार सकते हैं। ऐसे लोकेषणा के परित्यागी व्यक्तियों का एक लक्षण यह भी होता है कि वे मधुर भाषी, विनम्र और जितेन्द्रिय होते हैं। समाज में, धार्मिक संस्थाओं में, शिक्षण-संगठनों में अथवा राजनीति में जहाँ भी ऐसे व्यक्ति पहुँच जाते है, उन्हें अपनी क्रियाशीलता से प्रशंसनीय गौरव-गरिमा प्रदान कर देते है। निश्चय ही ऐसे लोकेषणा के परित्यागी मनीषियों की संख्या वित्तेषणा और पुत्रेषणा के त्यागियों की अपेक्षा कम ही रहती रही है। हिन्दी भाषा के महाकवि तुलसी की निम्न उक्ति हमारे इस कथन का प्रमाण है :-

कञ्चन तजिबो सहज है, सहज तिया को नेह।
मान-बड़ाई, ईर्षा, तुलसी दुर्लभ ऐह॥

गोस्वामी तुलसीदास का जीवन स्वयं इस उक्ति का मूर्तमान रूप था। वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणा सबसे अछूता-सा था उनका अपना जीवन। और यह सब कुछ उन्होंने समर्पण कर दिया था अपने इष्टदेव भगवान राम के चरणों में। वे सारी एषणाओं से विमुख होकर कहा करते थे :-

हम 'चाकर' रघुवीर के, पटो लिखो दरबार।
अब तुलसी का होंयगे नर के मनसबदार॥

अर्थात्

'हम तो रघुवीर के चाकर हैं, नौकर हैं जिन्होंने जीवन-भर के लिए चाकरी का पट्टा उनके हक में लिख दिया है। किसी और को सेवा-चाकरी या उसके द्वारा दिये जाने वाली पद प्रतिष्ठा या धन-सम्पदा की बात सोची ही कैसे जा सकती है? इष्ट की निष्काम सेवा वह भी दम्भ और अधिकार पूर्वक नहीं किन्तु एक विनम्र मुद्रा से चाकर के समान निरन्तर करते रहने के अलावा और कुछ सोचना अनिष्ट का कारण ही सकता है चाकर का।'

कैसा उदात्त विचार था गोस्वामी तुलसीदास का। जैसी कथनी वैसी करनी और जैसी करनी वैसी कथनी, दोनों में एकरूपता होती है, लोकेषणा के परित्यागी व्यक्तित्व में। वित्तेषणा और पुत्रेषणाओं का त्याग तो लोकेषणा त्यागी की पूर्व भूमिकायें होती है जिनसे वह पहले ही गुजर चुका होता है। यदि जीवन के सहज धर्म के आश्रयभूत उसके पास वित्तेषणा और पुत्रेषणा की कुछ राशि जमा भी रही होती है तो उसे वह लोक हित में समर्पण कर देता है। सत्य धर्म की खोज में, भगवान बुद्ध का राजपाट और पत्नी पुत्रादि को छोड़कर चुपचाप जंगल की ओर चल देना है एषणाओं के त्याग का एक उत्तम और अनुकरणीय उदाहरण है। तथागत के जीवन में न धनेषणा थी न पुत्रेषणा और न लोकेषणा। राज्याधीश का सहज पद उन्हें

प्राप्त था। इससे बढ़कर और क्या प्रतिष्ठा उन्हें सुलभ होती। लेकिन यह पद-प्रतिष्ठा भी उन्हें लोकैषणा की विषधारा ही सी प्रतीत हुई जिसे उन्होंने सहज भाव से लोक-कल्याण और सत्यशोधन के लिए पी लिया, उसी प्रकार जिस प्रकार कि भगवान शंकर ने देवों के कल्याण के लिए कालकूट विष का पान कर लिया था। हमारे प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास में ऐसे और भी आदर्श-जीवन के सन्त और साधु पुरुषों के नामों का मिलना दुर्लभ नहीं है जिन्होंने इन एषणाओं से रहित जीवन जिया हो विशेषकर—लोकैषणा से रहित।

योग-दर्शन में इन्हीं एषणाओं के विस्तार को चित्त की भौतिक वृत्तियों के नाम से इंगित किया गया है जिनका निरोध कर लेने पर ही समाधि सिद्धि सम्भव हो पाती है।

वृत्तियां अनन्त और असंख्य होती हैं इन्हीं सब वृत्तियों को दार्शनिकों ने वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा नामक तीन वृत्तों में समेटने का प्रयास किया है। हमारी सारी भौतिक इच्छायें इन्हीं तीन वृत्तों या वर्गों में आ जाती हैं, इसीलिए योग साधकों को परामर्श दिया गया है कि वे इन तीनों एषणाओं को पहचान कर इनसे बचकर चलने का सतत प्रयास करते रहें, विशेष रूप से लोकैषणा से। क्योंकि यही वह विषबेलि होती है जिसका आलिंगन कर लेने पर पीछा छुड़ा लेना जीवन-साधना के साधक के लिए सम्भव नहीं हो पाता। यह लोकैषणा ही है जिसने आज की राजनीति को, धर्म और समाज नीति को सत्ता और स्वार्थभोगी नीति बना डाला है। मैं ही लोकसभा या विधानसभा का सदस्य होने की योग्यता रखता हूँ, मैं ही मन्त्री पद का सर्वोत्तम अधिकारी हूँ, मैं ही अमुक संस्था का सफल संचालन कर सकता हूँ, ऐसी अनैतिक-सी भावनायें लोकैषणा के फलस्वरूप ही सर्वत्र मानव मनों में समायी हुई हैं। इस विषबेलि से बचने का एकमात्र उपाय है अपने को निष्काम कर्मयोगी के रूप में बदल डालने का सद्प्रयास करना।

इस सद्प्रयास का शुभारम्भ यौगिक जीवन पद्धति को सर्वथाभावेन अपनाने का संकल्प लेकर ही किया जा सकता है। परमार्थ सिद्धि का मार्ग इसके अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं। भगवान श्रीकृष्ण ने इसीलिए श्रीमद्-भगवद् गीता में एक बार नहीं अनेक बार अर्जुन को 'योगी-जीवन' की विशेषताओं से परिचित कराया है और कहा है कि हे अर्जुन ! योगस्थः कुरु कर्माणि, यही वाक्य तेरी जीवन-विधा का आधार होना चाहिए। जब तू 'योगस्थ' होकर जो भी चिन्तन करेगा, या जो कुछ भी कर्म करेगा वह सब कल्याणकारी ही होगा। 'नहि कल्याण कृत कश्चित दुर्गति तात

(शेष पृष्ठ ८ पर पढ़िए)

रमता जोगी बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी—
'चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी ॥'

सन्तों की मान्यता है कि जहाँ भी श्रद्धापूर्वक भगवान राम का स्मरण अथवा उनके चारु-चरित्र की चर्चा होती है अञ्जनी पुत्र हनुमान अपने इष्ट की चर्चा जानने-सुनने और समझने के लिए वहाँ सविग्रह उपस्थित रहा करते हैं। दक्षिण देश के सन्त रामदास अपने आश्रम पर बैठे-बैठे बड़ी श्रद्धा भावना से रामकथा का वह प्रसंग अपने एक शिष्य को बोलकर लिखा रहे थे जिसमें अशोक-वाटिका में बन्दी बनाई गई माता सीता से मिलने के प्रयास में हनुमानजी जा पहुँचते हैं। वर्णन चल रहा था अशोक वाटिका की मनोहर फूलों की क्यारियों का।

× × ×

स्वामी रामदास बोल रहे थे—'जब हनुमानजी अशोक-वाटिका में पहुँचे तब वहाँ उन्होंने सफेद फूलों की सुन्दर क्यारियाँ देखीं।

× × ×

इसे सुनते ही हनुमानजी जो अदृश्य रूप में विराजे हुए थे सहसा प्रकट रूप में आये और बोले—अशोक-वाटिका की वे क्यारियाँ सफेद फूलों की नहीं, किन्तु लाल फूलों की थी। अतः इस भूल को सुधार लो।

× × ×

सन्त रामदास का उत्तर था। फूल सफेद ही थे लाल नहीं। अतः भूल सुधार की कोई आवश्यकता नहीं है।

× × ×

(पृष्ठ ७ का शेष)

गच्छति' जैसी स्थिति योगी को ही प्राप्त होती है इसलिए भगवान ने फिर कहा :—

'तस्मात योगी भवार्जुन।'

और यही सन्देश हमारे ब्रह्मलीन श्री गुरुदेवजी महाराज का था। अपना सारा जीवन उन्होंने योग-प्रचारार्थ ही अर्पण कर दिया। योग के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने में जिस अथक श्रमशीलता का परिचय उन्होंने दिया वह हमारे लिए न केवल प्रशंसनीय बल्कि अनुकरणीय होना चाहिए। वे एक निष्काम कर्मयोगी बनने की प्रेरणा सदैव अपने प्रवचनों के माध्यम से दिया करते थे और कहा करते थे कि योग-साधना में किसी भी साधक को किञ्चित भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। बहुधा वे उपदेशित किया करते थे :

काल करे सो आज करि, आज करे सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करेगा कब्ब ॥

—सम्पादक

हनुमानजी ने फिर कड़ककर कहा—नहीं जी फूल तो लाल ही थे सफेद नहीं। भला मैं तो स्वयं देख ही रहा था। फिर मेरी देखी बात कैसे मिथ्या कर सकते हो?

सन्त रामदास फिर भी अपनी बात पर अड़े रहे और दृढ़ता से यही कहते रहे कि वे फूल सफेद रंग के ही थे लाल रंग के नहीं?

× × ×

दोनों ही भगवान के गाढ़े भक्त थे। दोनों के बीच का विवाद कहीं कटुता का आधार न बन जाय इसलिए विवाद का सही निर्णय देने के लिए भगवान राम स्वयम् अपने दिव्य-रूप में प्रकट हुए। दोनों भक्तों ने उन्हें प्रणाम किया और भगवान के पूछने पर दोनों ने अपने वाद-विवाद का कारण उन्हें बता दिया। साथ ही दोनों ने यह भी आग्रह किया कि विवाद का निर्णय आप स्वयं ही श्रीमुख से कर दें कि अशोक वाटिका के वे फूल किस रंग के थे। हनुमान के कथनानुसार लाल या रामदास के कथनानुसार सफेद?

× × ×

भगवान राम ने तुरन्त प्रति-उत्तर में कहा—जिस समय हनुमान वहाँ पहुँचे तब उन्होंने वहाँ सफेद फूल ही देखे थे, क्योंकि फूल मूलतः सफेद ही थे।

× × ×

हनुमान ने राम की ओर निहारा और कहा—'पर मैं तो स्वयं लाल रंग के फूल देख रहा था—कैसे मान लूँ कि फूल सफेद रंग के थे उन क्यारियों में?'

भगवान राम ने जवाब दिया—वत्स, तुम्हारे देखे वे फूल वस्तुतः तो सफेद ही थे किन्तु जिस समय अशोक-वाटिका में उस दिन तुमने प्रवेश किया था तब रावण के द्वारा सीताहरण और उसे बन्दी बनाये जाने के जघन्य अपराध का स्मरण आ जाने के कारण तुम्हारी आँखें लाल हो रही थीं। इसीलिए क्रोधावेश में तुम्हें सफेद फूल भी लाल दिखायी पड़ रहे थे। अतः भक्त रामदास जो सफेद फूल बता रहे हैं वह बिल्कुल सही बता रहे हैं। इसमें वत्स हनुमान! तुम्हें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए।

× × +

भगवान राम का यह निर्णय सुनकर हनुमान चुप हो गये। भगवान राम अपने विग्रह-सहित घटना स्थल से अदृश्य हो गये। सन्त रामदास ने अपना कथा प्रसंग आगे लिखाना शुरू कर दिया। साथ ही उन्होंने उपस्थित शिष्य समूह को बताया—आन्तर भावना बदल जाने पर मनुष्य का दृष्टिकोण भी बदल जाया करता है और दृष्टिकोण बदल जाने पर दृश्य भी तदनुसार नजर आने लगता है जैसा कि एक कवि महोदय ने भी इस सचाई को जनमानस में भरने दो पंक्तियों में बिठाने का प्रयास निम्न प्रकार किया है—

दृष्टि-भेद से हो जाता है, दृश्य-भेद कुछ ऐसा।
मृग-मरीचिका में ज्यों लगता, मरुथल जल-थल जैसा॥

—योगी रमतराम

● श्री कृष्णानन्दजी महाराज

मिट्टी और उसकी उपयोगिता

आर्य सिद्धान्तानुसार ब्रह्माण्ड की रचना आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन ५ भूतों (तत्त्वों) से हुई है। इनमें पृथ्वी में शेष चार भूतों के परमाणु भी अवस्थित हैं। इस पृथ्वी द्रव्य से ही तृण, वनस्पति और प्राणी समूह के शरीरों की रचना हुई है अर्थात् देह में पार्थिव द्रव्य की प्रधानता है। यह पञ्चभूत ही शरीर के भीतर त्रिदोष-वात, पित्त, कफ रूप से परिवर्तित हुआ है। जब तक पञ्चभूत (त्रिदोष) सम स्थिति में रहते हैं, तब तक देह नीरोगी रहता है। जब उसमें न्यूनाधिकता हो जाती है, तब रोगोत्पत्ति हो ही जाती है। इन पञ्चभूतों की न्यूनाधिकता को दूरकर समता लाने के लिए मिट्टी का प्रयोग उपयोगी रहता है, ऐसा मानकर प्राकृतिक चिकित्सकों ने मिट्टी को विशेष स्थान दिया है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी अपने लिए एवं अन्य सब आश्रमवासियों के लिए भी सफलतापूर्वक मिट्टी का उपयोग अत्यधिक परिमाण में करते रहते थे। यद्यपि मिट्टी का लेप देह से बाहर किया जाता है, तथापि वह देह के अन्तर्गत विकृति को बाहर खींच लेता है। इसका प्रयोग रात-दिन ठण्डी, गर्मी और वर्षा सब ऋतुओं में निर्भयतापूर्वक हो सकता है।

सिरदर्द, उदरपीड़ा, हैजा, अपचन, अतिसार, विषप्रकोप, गलितकुष्ठ, फोड़ा-फुन्सी, दुर्गन्धियुक्त फोड़े, जख्म, चेचक, वातप्रकोप, शूल, ज्वर, रक्तस्राव, मधुमक्खिका, ततैया आदि के विष आदि पर मिट्टी का प्रयोग उपकारक होता है। सर्पविष, बिच्छू और पागल कुत्ते के विष को भी मिट्टी हरण कर लेती है। मिट्टी का उपयोग औषध रूप से भारत में अति प्राचीन काल से हो रहा है। यूरोप में इसका औषधोपचार रूप से प्रचार एडाल्फ ज्यूस्ट नामक जर्मन चिकित्सक ने कराया है। आयुर्वेद में मिट्टी की मुख्य ४ जातियाँ दर्शायी है। सफेद (खड़िया मिट्टी), लाल (गेरू), पीली (मुलतानी) और काली (खेत की मिट्टी)। इन सबके गुण धर्म कुछ भेद सह परस्पर समान हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सक वर्ग तालाब के कीचड़ और बालू रेत का भी औषध रूप से उपयोग करते रहते हैं।

(१) जंगल या खेतों मे मिट्टी औषध रूप से लेनी हो उसे भी २ हाथ गहरा गड्ढा खोद कर निकालना चाहिए।

नव्य चिकित्सकगण मिट्टी को पहले विसर्जित लवणजल में उबाल धोकर स्वच्छ करते हैं, जिससे अपक्व अंश और विकृत अंश दूर हो जाता है तथा स्फीत परमाणु दब जाते हैं। ऐसी मिट्टी को विशुद्ध मृत्तिका कहते हैं। इसकी लेटिन संज्ञा है। यह मुलायम-धूसरवर्ण का चूर्ण बन जाता है। इसका औषधोपयोग करने पर पूरा-पूरा लाभ मिलता है।

सामान्यतः सब प्रकार की मिट्टियों में विषघ्न और शीतल गुण न्यूनाधिक अंश में रहता है। उससे हेतु से यहां सबका पृथक गुण दर्शाया है।

१. खड़िया मिट्टी—इसमें मलिन और उज्वल, दो भेद होते हैं। उज्वल, सफेद और मृद है, वह अधिक गुणप्रद है। वह शीतल, मधुर और लेखर है। दाह, रक्त विकार, विष प्रकोप, शोथ, कफ वृद्धि और नेत्रविकार की नाशक है। बालकों के लिए हितावह है।

दंत-मञ्जन में खड़िया मिलायी जाती है या केवल खड़िया के चूर्ण से दांतों को घिसने पर भी दांत स्वच्छ और तेजस्वी बन जाते हैं। खड़िया के अतिरिक्त गोपीचन्दन आदि को भी सफेद मिट्टी कह सकते हैं। उसमें भी सफेद मिट्टी का गुण है, किन्तु खड़िया की अपेक्षा कम है।

गोपीचन्दन—काशीसके विष और उदर में कांचका चूर्ण चले जाने पर गोपीचन्दन को मट्ठे में मिलाकर पिलाया जाता है। कठोर या दाहक वस्तु के सेवन से मुंह में छाले हो गये हों, या विष स्पर्श से त्वचा पर छाले हुए हों तो गोपीचन्दन घिसकर लगाने पर लाभ पहुँचता है।

विसर्प और व्रणशोथ पर गोपीचन्दन का लेप करने पर लाभ पहुँचता है।

२. लाल मिट्टी (सोना गेरू)—इस के २ प्रकार है। एक पत्थर जैसा गेरू और दूसरा मिट्टी जैसा गेरू। जो लाल मुलायम गेरू है, उसमें लोह तत्व रहता है, वही अधिक लाभ-प्रद है। वह चक्षुष्य, बल्य और शीत वीर्य है। रक्त विकार, व्रण रोग, रक्त पित्त, कफ प्रकोप, हिक्का और विषम ज्वर में हितावह है। युनानी वाले गिले अरमनी का अधिक प्रयोग करते हैं।

बालकों का उदर रोग—उदर मिट्टी खाने से बढ़ा हो गया हो, उदर में मिट्टी जमा हो गई हो, तब सोना गेरू को थोड़े घी में सेक, शहद मिलाकर खिलाने से संग्रहीत मिट्टी निकल जाती है। उदर समस्थिति में आ जाता है और बालक सशक्त बन जाता है।

हिक्का—भुनी हुई सोना गेरू का चूर्ण शहद के साथ देने से हिक्का शान्त होती है।

रक्तार्श—इसकी पुल्टिस बांधने से रक्त बन्द हो जाता है।

३. पीली (मुलतानी) मिट्टी—पीली मिट्टी में भी देश-भेद से अनेक प्रकार हैं। इनमें मुलतानी अधिक गुणयुक्त है। यह शीतल रक्त स्तम्भन, ग्राही, संशमन और लेखन है एवं यह विष प्रकोप को दूर करती है। नकसीर, मूत्र में रक्त आना और सगर्भा के रजो-दर्शन को बन्द करने के लिए इसका जल पिलाया जाता है। मुलतानी लगाकर स्नान करने पर बाल मुलायम होते हैं। त्वचा शुद्ध होती है और मस्तिष्क को शान्ति मिलती है। कब्ज और आंतों की वायु को दूर करने के लिए इसका लेप आंतों पर किया जाता है एवं पेचिश, रक्तातिसार, रक्त पूयमय अतिसार आदि रोगों में भी उदर पर इसका १-१ अंगुल मोटा लेप किया जाता है।

कब्ज सह ज्वर में उदर और कपाल में भी इसका लेप लगाया जाता है। मोतीझरे में इसका उपयोग होता है।

नाक से रक्त गिरने पर इसकी १-१ अंगुल मोटी रोटी बना, सिर पर बांध देने से रक्त स्राव बन्द हो जाता है।

बालकों की नाभि का शोथ—मुलतानी को अग्नि में तपा, उस पर दूध डालने से

उसमें बाष्प निकलेगी, इस वाष्प का सेक नाभि को देने पर १-२ दिन में सूजन दूर हो जाती है।

खुजली—मुलतानी को दही या नारियल के तेल में खरलकर मालिश करने पर खुजली नष्ट हो जाती है।

४. काली मिट्टी—खेतों की मिट्टी जो अधिक चिकनी होती है, वह औषधोपयोगी है। गाँवों के नजदीक की मिट्टी में दूसरे कचरे गिर जाते हैं। इस हेतु से उससे हानि होने की भीति भी रहती है। काली मिट्टी शीतल, विषघ्न, शोथहर और पीड़ाशामक है। रक्तविकार, दाह पित्त प्रकोप, क्षत, मूत्र-कृच्छ, उदरशूल, विसर्प के फोड़े, जहरी फोड़े, शोथ, खुजली और खुजी आदि पर लाभ-दायक है। यह मधुमक्षिका, ततैया, मकड़ी आदि के विष शोषण करती है, पीड़ा को शमन करती है और शोथ को दूर करती है। जर्मनी डाक्टर एडोल्फ ज्यूस्ट ने मिट्टी का प्रयोग करके सर्प विष से बेहोश लड़की को जीवन दान दिया था। डाक्टर ने जमीन में गड्ढे को जल से आर्द्र करके कण्ठ तक लड़की को दबा दिया, २४ घण्टे होने पर सब विष का शोषण जमीन में हो गया था।

आँखों में जलन होने, जल गिरने और शूल चलने पर काली मिट्टी की पुल्टिस बाँध ने से चमत्कारिक लाभ होता है। नेत्र दृष्टि कम होने पर मिट्टी के फोहे बाँधते रहने से दृष्टि सुधर जाती है।

गाँठ, फोड़े और पके हुए क्षत आदि से पीप आ रहा हो और वेदना भी होती हो, तो उस पर काली मिट्टी का लेप करने पर तुरन्त वेदना शान्त हो जाती है और पूय शोषण होना प्रारम्भ हो जाता है। मिट्टी को बार-बार बदलते रहने से थोड़े ही दिनों में लाभ हो जाता है।

मूत्रावरोध—नाभि के नीचे मूत्राशय पर मिट्टी का लेप १-१ अंगुल मोटा बाँध देने से आध घण्टे के भीतर पेशाब साफ आ जाता है।

गर्भस्राव—चोट लगकर या भोजन में उष्ण पदार्थ मिल जाने से गर्भाशय में उष्णता बढ़कर गर्भस्राव हो रहा हो, तो कुम्हार के चाक की मिट्टी या सोना गेरू ५-५ तोले को ४० तोले जल में मिला छानकर १-२ बार पिला देने से गर्भस्राव होता हुआ रुक जाता है।

पुराना कब्ज—पुराने कब्ज विकार वाले बार-बार विरेचन लेते रहते हैं और शक्ति का क्षय करते रहते हैं। ऐसे क्रूर बद्ध कोष्ठ पर भी बालू लाभ पहुँचाती है। इस रोग से पीड़ितों को बालू ३-४ माशे दिन में ३ बार जल के साथ कुछ दिन तक देने से आँतों में चिपका हुआ पुराना मल निकल जाता है और आँतें मुलायम हो जाती हैं। फिर अशक्ति, मानसिक विकृत अग्निमांद्य और आलस्य आदि, जो उपद्रव उत्पन्न हुए हैं वे दूर हो जाते हैं।

हैजे के रोगी को ३२ गुने जल में उबाली हुई मिट्टी से निथारा हुआ जल १-१ तोला बार-बार पिलाते रहने से वमन और दस्त बन्द हो जाते हैं। अपचन और अफारा को दूर करने के लिए मिट्टी का १-१ अंगुल मोटा लेप उदर पर बाँध देने और नीबू का रस मिला हुआ गरम जल पिला देने से प्रकृति स्वस्थ हो जाती है।

● आचार्य विनोबा

भक्ति : एक दार्शनिक चिन्तन

बहुतों का ख्याल है कि पहले मनुष्य आज के जंगली जानवरों जैसा ही था। कम-बेशी वह जानवर ही रहा। उसे सृष्टि-रहस्य का कुछ ज्ञान नहीं था और ज्ञान के अभाव में भय लगता था। बारिश हुई, बिजली चमकी, भूकम्प हुआ तो वह डरने लगता, जबकि आज कम डरता है। भयभीत हो उसका मनोभाव सृष्टि की शरण में जाता और फिर धीरे-धीरे वह भक्ति की ओर मुड़ता। इस तरह कुछ लोग भय से भक्ति-मार्ग का आरम्भ मानते हैं। लेकिन हमें यह मान्य नहीं।

भय से नहीं, प्रीति से भक्ति का जन्म

हम मानते हैं कि भक्ति का उद्गम 'भीति' से नहीं, 'प्रीति' से हुआ है। मनुष्य के लिए जितनी भीति स्वाभाविक है, उससे कहीं अधिक स्वाभाविक है प्रीति। भीति तो मनुष्य और जानवर दोनों को होती है। किन्तु मनुष्य को भीति से पहले प्रीति का अनुभव होता है। हर प्राणी माता के उदर से जन्म लेने के बाद पहले-पहल माता का प्रेम पाता है। इस तरह उसका प्रथम अनुभव 'प्रीति' का ही है। बाद में उसे 'भीति' का अनुभव आता है। हमने भक्ति के जो सबसे पुराने स्तोत्र पढ़े, उनमें ईश्वर को 'माता-पिता' कहा गया है। भक्ति मार्ग में ईश्वर के भयानक रूप का उतना ध्यान नहीं, जितना प्रेममय रूप का है। ईश्वर के अनन्त गुणों में कुछ गुण ऐसे भी होते हैं, जो हजम नहीं हो पाते, हमें भयावह मालूम पड़ते हैं। इसलिए उनसे भय लगता है। लेकिन यह निश्चित है कि प्राचीन-काल में भक्ति का आरम्भ भय से नहीं, प्रेम से ही हुआ। आज भी हमें भीति और प्रीति दोनों का अनुभव हो रहा है। पहले के लोग सृष्टि का भयानक रूप देखकर डरते थे। आज दुनिया में अणुबम का भय छाया हुआ है। डर कम नहीं हुआ, पर उसका रूप बदल गया। इस तरह भय और प्रेम, भक्ति के ये दोनों प्रकार प्राचीन-काल से अब तक चले आ रहे हैं।

भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग

अब यह विचारणीय है कि 'भक्ति-मार्ग' और कर्म-मार्ग' में क्या सम्बन्ध है? कर्म-मार्ग में कर्म का प्रतिफल मिलता है—जैसा करो वैसा पाओ, जबकि भक्ति-मार्ग में परमेश्वर से क्षमा माँगी जाती है। तो क्या भक्ति से कर्म के फल टल जाते हैं? नहीं, भक्ति-मार्ग से कर्म का फल भोगने का अटल नियम टल नहीं सकता। फिर भी भगवान् कर्म का फल भोगने का धैर्य देता है। हमने बुरा काम किया तो उसका फल टलेगा नहीं, पर उसका परिणाम चित्त पर न हो, इतना धैर्य हम में आ जाय तो समझ लें कि बच गये। भक्ति से परमेश्वर हमें कर्म फल के भय से बचाता है।

एक उदाहरण लीजिए। मनुष्य को शारीरिक बीमारी होती है। हम ऐसा कुछ काम करते हैं, जिसके कारण रोग होता है। रोग आने पर मनुष्य एकदम हिम्मत हार जाता है। उस समय यदि ईश्वर-भक्ति का आश्रय लिया जाय, तो उसके चित्त को प्रसन्नता और शान्ति मिलती है। वह सोचता है कि इस रोग द्वारा मेरा शुद्धि-कार्य हो रहा है। ताप तो होता है, पर उसका उसे अनुभव नहीं होता। बल्कि यही अनुभव होता है कि मैं ईश्वर से कुछ पा रहा हूँ। भगवत्-प्रेरणा पर मनुष्य की यह श्रद्धा ही 'भक्ति' है। भक्ति का अर्थ यह नहीं कि हमें कोई वरदान मिल जाय। सारांश, भक्ति का अर्थ यही दृढ़ विश्वास है कि 'ईश्वर की योजना में हमें जो सुख-दुःख के अनुभव आते हैं, दोनों में ईश्वर की दया ही काम कर रही है। दोनों अनुभवों से हमारा भला ही होने वाला है।

भक्त की भूमिका यही है कि वह सुख या दुःख में, कर्म के अच्छे या बुरे फलों में—दोनों में भगवान् की कृपा ही मानता और कहता है कि यह सारा भगवान् की ही योजना से हुआ है। जैसे सुदामा को भगवान् से प्रत्यक्ष कुछ नहीं मिला, तो भी उसने कहा कि यह तो प्रभु की कृपा हुई और जब देखा कि कुछ मिला तो कहा : 'यह भी प्रभु की कृपा है।' जैसे गुजरात के सन्त नरसी मेहता की पत्नी मर गयी तो उन्होंने गाया : भलुं थयुं भांगी जंजाल सुखे भजशुं श्रीगोपाल। यही हाल तुकाराम का भी रहा। सुख और दुःख में भक्त के मन की समता कायम रहती है और वह उसे अत्यन्त स्वाभाविक रीति से प्राप्त होती है, जो योगी के लिए भी अत्यन्त कठिन है। मन को हर हालत में समत्वयुक्त रखना कठिन है। किन्तु भक्ति-मार्ग में तो जो कुछ सुख-दुःख प्राप्त होता, सारा 'हरिप्रसाद' मान लिया जाता है। इसलिए वहाँ मन की समता की युक्ति सधती है, जो कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग में कठिन हो जाती है। कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें भक्ति-मार्ग प्रेम-मार्ग की अपेक्षा ज्ञान-मार्ग, चिन्तन और ध्यान अधिक सरल मालूम हो। फिर भी वह तो कुछ विशेष व्यक्तियों के लिए है। सर्व-साधारण की दृष्टि से देखा जाय, तो उनके लिए भक्ति-मार्ग ही सरल है।

भक्ति-मार्ग में आपको आदत हो जाती है कि सामने जो चल रहा है, उसे 'प्रभु की लीला' समझें। 'ज्ञान-मार्गी' कहते हैं कि यह सारा स्वप्न है, मिथ्या है। 'कर्ममार्गी' कहते हैं कि यह सारा परिस्थिति का परिणाम है। लेकिन 'भक्तिमार्गी' कहते हैं कि यह सारा खेल है, नाटक है। परमेश्वर अनेक रूप लेकर लीला कर रहा है।

वैसे देखा जाय तो इसे खेल मानना ही कठिन है। भक्ति-मार्ग सरल है, इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें कुछ नहीं करना पड़ता या कुछ नहीं सहना पड़ता। वास्तव में उसमें अत्यधिक त्याग करना पड़ता है, पर वह महसूस नहीं होता। भक्ति-मार्ग में कष्ट भी 'आनन्द' का एक भाग बन जाता है, ताप 'तप' बन जाता है। माँ बच्चे के लिए कितना त्याग करती है, पर उससे उसके मन के अत्यन्त प्रसन्नता ही होती है। जहाँ प्रेम का अनुभव हो, वहाँ कष्ट नहीं होता, ऐसा नहीं। बस, कष्ट मालूम नहीं होता। कष्ट में भी आनन्द का अनुभव हो, यही भक्ति-मार्ग की अपूर्व युक्ति है।

गुरुदेवजी स्मृति में समर्पित :–

झाँसी योग मण्डल का पञ्चदश सम्मेलन

तथा

बुन्देलखण्ड—संगीत सम्मेलन

(हमारे अपने प्रतिनिधि द्वारा)

भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रथम युद्ध में अपने शौर्य और साहस का एक प्रेरक इतिहास निर्माण कर जाने वाली महारानी लक्ष्मीबाई के प्रख्यात नगर झाँसी में उन्हीं की स्मृति में बने 'लक्ष्मी व्यायाम मन्दिर' में दो उल्लेखनीय समारोहों का आयोजन गत दिनों ८-९ और १० नवम्बर को हुआ। इन में से एक था झाँसी के योग प्रचार मण्डल का पञ्चदश सम्मेलन। इस योग-प्रचार शाखा मण्डल की स्थापना का बीज अब से लगभग १५ वर्ष पूर्व सवाई योग-प्रशिक्षण केन्द्र के संस्थापक परम श्रद्धेय योगिराज ब्रह्मलीन श्री चन्द्रमोहनजी महाराज ने योग-प्रेमियों के कल्याणार्थ अपने योग प्रचार कार्यक्रम के अन्तर्गत वपन किया था। जो अब एक सशक्त संस्था का रूप ले चुका है। यहाँ के अधिकांश सुशिक्षित भाई-बहनों का इसे पूरा सहयोग प्राप्त है। अपने गुरुदेव के प्रति इन सभी भाई-बहनों की जो गहरी श्रद्धाभक्ति देखने में आई वह अति प्रशंसनीय और अनुकरणीय थी। इस पंचदशी समारोह में महाप्रभुजी और गुरुदेवजी की आरती और संकीर्तन का कार्यक्रम जो नियत समय पर प्रातः व सायं प्रारम्भहोकर सम्पन्न होता रहा श्रोताओं को वह बड़ा ही हृदयग्राही आनन्द विभोर बना देने वाला रहा।

आरती और संकीर्तन के पश्चात् सुविख्यात प्रवक्ता आचार्य चन्द्रहास शर्मा और श्री ओमप्रकाश पालीवाल के प्रवचन जो प्रायः योग परक ही थे श्रोता समूह बड़े ध्यान और योग के साथ सुने जाते रहे। आचार्य चन्द्रहासजी ने 'उपाय प्रत्यय' और 'भव प्रत्यय' की विविध भूमिकाओं पर एवं समाधि सिद्धि में ध्यान एवं सतत् प्राणायाम की विधियों और प्रणालियों पर प्रकाश डाला जबकि ब्रह्मचारी ओमप्रकाश जी पालीवाल ने अपने प्रवचनों में गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज द्वारा अपने सद्शिष्यों पर उनके कल्याणार्थ की गई कृपाओं के अनेक उदाहरण देते हुए यह समझाने का प्रयास किया कि आध्यात्मिक उत्थान में सद्गुरु का कृपापूर्ण दिशाबोध कितना उपादेय रहता है।

सायंकाल की आरती और प्रवचनों के कार्यक्रम की समाप्ति के उपरान्त लगभग १०॥ बजे रात्रि से निर्धारित उस दूसरे समारोह का कार्यक्रम आरम्भ हो जाता था जो बुन्देलखण्ड संगीत सम्मेलन के नाम से इन्हीं तिथियोंमें इसी व्यायाम मन्दिर के एक समान्तर बने विशाल कक्ष में आहूत किया गया था। इसका आयोजन भी प्रभु श्री रामलाल संगीत विद्यालय झाँसी द्वारा किया गया था। यह दोनों ही उपयोगी समारोह योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज की स्मृति में उन्हीं के चरणों समर्पित किये गये थे। अपने जीवन-काल में योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहनजी महाराज प्रतिवर्ष ही यहाँ आयोजित संगीत सम्मेलन में सम्मिलित होकर इसकी शोभा बढ़ाया करते थे और प्रायः सारी रात जमकर वाद्य तथा संगीत कला के

अखिल भारतीय ख्याति के कलाकारों द्वारा प्रवाहित रसगंगा में सब श्रोताओं के साथ अवगाहन कर उनका उत्साह विवर्धन किया करते थे।

इस वर्ष भी वह भव्य संगीत सम्मेलन जो उन्हीं की स्मृति में उनको ही समर्पित था अपने ढंग का अनोखा और अनुपम ही रहा। अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त कलाकारों ने इसमें भाग लेकर जनसमूह को आनन्दित किया। ये सभी कलाकार निकटवर्ती और दूर-दूर के प्रदेशों से आकर इसमें शामिल हुए थे। संगीत, वादन और नृत्य की जो भी प्रस्तुति सामने आई बड़ी मनोमुग्धकारी और सराहनीय रही।

सूत्रों के अनुसार संगीत सम्मेलन के अन्तिम दिन कार्यक्रम का आरम्भ पं. सुखदेव चतुर्वेदी के ध्रुपद गायन से हुआ। धमार गायन के साथ उन्होंने अपना कार्यक्रम समाप्त किया। कल के पं. प्रेम कुमार मलिक (इलाहाबाद) के ध्रुपद गायन में जहाँ विभिन्न लयकारियों की दमदार भिड़न्त उल्लेखनीय रहीं वहीं आज के ध्रुपद गायन में माधुर्य उल्लेखनीय रहा। उस्ताद अलाउद्दीन खाँ की शिष्य परम्परा के सरोद वादक कल्याण बनर्जी के विशेष तैयारी के साथ झाला प्रस्तुत किया। कु. रुचि शर्मा के नृत्य ने कल लोगों को मोहित कर दिया था। आज श्रीमती रीता राय (बम्बई) द्वारा प्रस्तुत कत्थक नृत्य में भाव प्रदर्शन, तत्कारों की तैयारी, गत भाव विशेष उल्लेखनीय रहे। सम्मेलन में पं. जालपा प्रसाद मिश्र (बनारस) का गायन व श्रीराम हर्ष का सितार वादन भी सराहा गया। ख्याति प्राप्त संगीत कलाकार पं. अनुपम राय के तबला वादन ने सम्मेलन में समाँ बाँध दिया। अन्त में संगीत विद्यालय के प्राचार्य व आयोजक श्री कृष्णकान्त झा ने सभी का आभार प्रकट किया।

श्री झा ने सबका आभार मानते हुए कहा आप जैसे विद्वान, तपोनिष्ठ गुरु भाइयों की स्नेह परिपूर्ण निष्काम शुभ कामनाएँ हम जैसे साधारण जीवों का मनोबल बढ़ाती रहीं।

प्रतियोगिताओं में ८२ प्रतियोगियों ने भाग लिया। सभी को पुरस्कार एवं प्रमाण-पत्र आचार्य श्री चन्द्रहासजी शर्मा द्वारा प्रदान किए गए। प्रतियोगिताएँ दिनांक ८-९-१० नवम्बर १९९१ में सम्पन्न हुयीं।

सम्मेलन में राष्ट्रीय स्तर के निम्नलिखित कलाकारों ने कार्यक्रम प्रस्तुत किए।

१. गायन— पं. जालपा प्रसाद मिश्र वाराणसी, पं. प्रेम कुमार मिश्र मलिक इलाहाबाद एवं पं. सुखदेव चतुर्वेदी मथुरा।

२. कत्थक नृत्य—कु. रुचि शर्मा एवं श्रीमती रीता राय बम्बई।

३. सितार— पं. शिवनाथ मिश्र वाराणसी, श्रीराम हर्ष सागर, प्रबल चौधरी कलकत्ता।

४. सरोद— श्री कल्याण बनर्जी इलाहाबाद।

५. तबला— पं. अनुपम राय, श्री श्री. नरहरि बम्बई, पं. शैलेन्द्र मिश्र वाराणसी, निसार अहमद ग्वालियर।

योग सम्मेलन में ऋषिकेश, सवाई ग्राम आगरा, लखनऊ, ग्वालियर, दिल्ली, मध्य-प्रदेश के अनेक श्रद्धालु भाई-बहनों ने भी भाग लिया।

सभी के ठहरने और खान-पानादि की सुव्यवस्था झांसी योग प्रचार मण्डल द्वारा की गयी थी। स्वागत समिति के सभी भाई-बहनों का स्नेह अति सराहनीय रहा।

● आचार्य रामलाल शर्मा

—: ध्यानदीप-प्रज्ञालोक :—

[गुरुदेव के परम-प्रिय शिष्य और योग के मर्मज्ञ विद्वान लेखक ने प्रस्तुत लेख में ध्यान-दीप और प्रज्ञा लोक की परिभाषा को साधकों को सही ढंग से समझाने का प्रयास किया है। पाठक उसका लाभ लेंगे, ऐसी आशा है। —सम्पादक]

योग मार्ग की साधना में प्रज्ञालोक का अपना विशिष्ट महत्व है। इस प्रज्ञालोक को हम योग प्रासाद का मुख्य द्वार कह सकते हैं। इसी के लिए भगवान व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में कहा है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य
अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः
सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

अर्थात् इस प्रज्ञा प्रसाद को पाकर अथवा प्रज्ञा प्रासाद पर चढ़कर शोकरहित योगी संसार में त्रस्त व्यक्तियों को उसी प्रकार से देखता है जिस प्रकार से किसी शिखर पर बैठा हुआ व्यक्ति भूमिस्थ व्यक्तियों को देखा करता है। यह प्रज्ञालोक क्या है तथा उसकी प्राप्ति के क्या साधन हैं? इस विषय पर योग दर्शनानुसार विवेचन करें। प्रज्ञालोक की प्राप्ति के साधन योग के अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान व समाधि ही हैं। एक ही विषय या ध्येय पर जब धारणा, ध्यान एवं समाधि इतना एवं दीर्घकाल तक की जाती है तब उसे संयम कहा जाता है और यही संयम की स्थिरता प्रज्ञालोक का द्वार है। यह सब एक सोपान क्रम से ही किये जाते हैं।

साधारण शब्दों में हम इस बात को इस प्रकार से समझा सकते हैं—जैसे कोई बच्चा जब पढ़ना प्रारम्भ करता है तो सर्वप्रथम उसे प्रथम एक-एक अक्षर का बोध करना होगा अक्षरोंके अलग-अलग बोध हो जाने पर धीरे-धीरे वह उन अक्षरों को जोड़ना सीखता है और इसी तरह से जोड़ते-जोड़ते वह पूरे शब्द को पढ़ने लगता है। कुछ महीनों के अभ्यास के बाद इस कार्य में वह इतना निपुण हो जाता है कि वह बड़ी तीव्रता से एक ही क्षण में अनेक शब्दों को पढ़ लेता है। उसकी अक्षर पहचान की योग्यता इतनी हो जाती है कि वह पल मात्र के दृष्टिपात से ही अक्षर बोध, उनका जोड़ एवं शब्दोच्चारण एक साथ कर लेता है। अक्षरों की आकृति संस्कार उनके मन में पूर्णतया जम जाते हैं। योगियों के धारणा ध्यान एवं समाधि का भी यही अभ्यास क्रम है। वर्षों के लगातार अभ्यास क्रम से उसे एक विषय पर संयम करते हुए धारणा, ध्यान एवं समाधि एक साथ ही सिद्ध हो जाते हैं। यह स्थिति भी उसी क्रम से ही प्राप्त होती है। समाधि सिद्ध हो जाने पर संयम की अवस्था आ जाती है। और संयम का अभ्यास करते-करते उसे प्रज्ञा का आलोक प्राप्त हो जाता है।

यह प्रज्ञालोक ही अन्तर्जगत को आलोकित करता है। इसे शास्त्रों में दिव्य-दृष्टि

ज्ञान चक्षु मन की आँखें आदि-आदि नामों से पुकारा गया है। यों तो कहने मात्र को अनेक शास्त्र-ग्रन्थ, मत-मतान्तर हैं जो आत्मदर्शन की गाथा गाते हैं किन्तु अनुभवी योगियों के अनुसार जब तक साधक प्रज्ञालोक को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक अन्तरयात्रा की गाथा वाग्विलास मात्र है। साधक चाहे वेदान्त मार्ग, जिसे ज्ञान-मार्ग नाम से भी मानते हैं चले अथवा भक्ति-मार्ग तथा अन्य किसी मार्ग से चले प्रज्ञा का आलोक सभी के लिए आवश्यक है।

वेदान्त का मूलमन्त्र है "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।" वेदान्ती जगत् को मिथ्या एवं स्वप्नवत् देखता है। अविद्या का नाश होने पर ही यह मिथ्यात्व ज्ञान नष्ट होता है। वेदान्त के श्रवण एवं पठन मात्र से यह अविद्या दूर नहीं होती। पुनः-पुनः श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करते रहना होता है। उसे भी योगाभ्यासी की तरह ही एक तत्त्वाभ्यास करना पड़ता है अर्थात् उसे भी ब्रह्माकार वृत्ति में स्थित रहने के लिए साधनारत रहना होता है। यदि एक बार का पठन एवं श्रवण मात्र कर लेने से ही आत्मज्ञान हो जाता तो साधक को वर्षों की साधना क्यों करनी पड़ती। इसीलिए अखिलात्मा ने अपनी भगवद्गीता में 'अनेक जन्म संसिद्धः ततो याति परां गतिम्" कहकर अनेक जन्मों की साधना का संकेत किया है।

भक्ति-योग मार्गियों को भी इसी स्थिति या मार्ग से गुजरना होता है। भक्त के लिए भगवान ही परमगति एवं परमाश्रय है भला क्या? परन्तु चित्त में राग-द्वेषादि अविद्या के रहते वह रजोगुण-तमोगुण के बन्धन से अनायास नहीं छूट [illegible]। भक्त भी निरन्तर रजोगुण एवं तमोगुण से [illegible] रहता है।

अविद्या रूपी सर्पिणी से डसा हुआ यह शोकाकुल हो जाता है। सन्त कबीरदास जी ने अपनी ऐसी स्थिति की दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—

सुखिया सब संसार है, खावे और सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे॥

भक्ति की पराकाष्ठा में भक्त भगवान से मिल जाना चाहता है तद्रूप हो जाना चाहता है। किन्तु इस अवस्था तक पहुँचने के लिए उसे भी गहन साधना करनी पड़ती है उसकी वह साधना ही योग-साधना है।

योग मार्ग के साधक का उद्देश्य एवं ध्येय तो स्पष्ट ही है चित्त वृत्तियों का निरोध उस चित्तवृत्ति निरोध के लिए उसे अनेकानेक साधनों का अवलम्ब लेना पड़ता है। चित्तवृत्ति के निरोध की प्रक्रिया ध्यान योग से प्रारम्भ होती है। अनन्त कोटि जन्मों के राग-द्वेषादि वासना से भावित तज्जन्य काम क्रोधादि से युक्त चित्त केवल ध्यान योग के निरन्तर अभ्यास से पूर्ण स्वस्थ हो सकता है। "ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः" कहकर भगवान पतञ्जलि जी ने राग-द्वेषादि से रहित होने का उपाय ध्यान योग ही बताया है। सांख्य-योग के आदि आचार्य महर्षि सिद्धराज कपिल ने भी "रागोपहतिर्ध्यानम्" अर्थात् राग के उन्मूलन का उपाय ध्यान है ऐसा यह सूत्र कहकर इसी बात की पुष्टि की है कि राग-द्वेष ही हमारे उत्थान [illegible] है। भगवान ने अपनी गीता में "तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ" कहकर साधक को इसके प्रभाव से रहित होने की बात कही है क्योंकि साधक के लिए यह दो शत्रु समान हैं। योगदर्शन में इन राग-द्वेषादि वृत्तियों के उच्छेदन का उपाय अभ्यास और वैराग्य ही बताया है। यह अभ्यास और

वैराग्य सभी साधकों के लिए उपदिष्ट है चाहे वह किसी भी मार्ग का अवलम्बी हो। अभ्यास से अभिप्राय ध्यान योग के अभ्यास से ही है। नश्वर वस्तुओं के प्रति अनासक्ति वैराग्य है। अभ्यास और वैराग्य का जितना अभ्यास बढ़ेगा उतना ही साधक अन्तर्मुखी होता चला जायेगा। वस्तुतः पतञ्जलि जी के सिद्धान्त उन सभी साधकों के लिए हैं जो आत्म-दर्शन के लिए साधनारत हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रियात्मक रूप से जब साधक, चाहे वह किसी भी मार्ग का अवलम्बी हो, साधनारूढ़ होता है तो उसे इस ही मार्ग से गुजरना होता है वह है हेय वृत्तियों का सर्वथा त्याग एवं संयम के द्वारा अभ्यास से प्रज्ञा-आलोक की प्राप्ति जो विवेक ख्याति का ही नामान्तरण है।

यह प्रज्ञालोक ही है जो भक्ति मार्गी को ईश्वर प्रणिधान द्वारा तद्रूप करा कर उसे सारूप्य एवं सायुज्य आदि मुक्ति देता है। भगवान पतञ्जलि जी ने इसीलिए समाधि प्राप्ति के कई उपायोंमें से 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' कहकर ईश्वर प्रणिधान को महत्ता दी है। अन्यत्र भी कई स्थलों पर भगवान पतञ्जलि जी ने ईश्वर प्रणिधान की विशिष्टता दी है। 'तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः' कहकर ईश्वर प्रणिधान को क्रिया-योग का अंग बताया है। नियमों में भी इसका समावेश है जिसका फल समाधि सिद्धि बताया है।

अतः सब का निष्कर्ष यह है कि चित्त की स्थिति की उपलब्धि हेतु चाहे कितने ही उपायों का अवलम्बन हो किन्तु प्रज्ञालोक की प्राप्ति किये बिना आत्म-दर्शन 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' का मन्त्र अर्थहीन ही है। ध्यान-योग ही इस प्रज्ञालोक का दाता है अतः प्रज्ञा-लोक एवं सिद्धयोग के विद्यार्थियों को इस आलोक तक पहुँचने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। यह प्रज्ञालोक-विवेक ख्याति एवं ऋतम्भरा-प्रज्ञा का दाता है जिससे साधक सत्-असत् अर्थात् पुरुष और प्रकृति का अलग-अलग साक्षात्कार कर अविद्या से मुक्त हो जाता है। फलतः कैवल्य लाभ को पा जाता है यही कैवल्य-अद्वैत के नाम से पुकारा जाता है।

वैशेषिक का मुक्ति पथ इस प्रकार है—

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां

पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। —वैशेषिक दर्शन

साधर्म्य और वैधर्म्यसे धर्मविशेष द्वारा उत्पन्न होने वाले जो द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक छः पदार्थ हैं उनके तत्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।

इनके यहाँ परमात्मा के साक्षात्कार को मोक्ष का कारण माना गया है और उसका साक्षात्कार श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा बताया गया है। वैदिक विधानपूर्वक ईश्वर-निरूपक शास्त्रों का सुनना 'श्रवण' कहलाता है और सुनी हुई वस्तुके याथात्म्य को विचार लेना 'मनन' कहाता है वस्तु के याथात्म्य तक पहुँचने के लिये अनुमान की आवश्यकता होती है और वह अनुमान व्याप्ति ज्ञान के अधीन है, क्योंकि बिना हेतु से साध्य को बाँधे अन्दाजा लग नहीं सकता। वह व्याप्तिज्ञान यथार्थ ज्ञानकी अपेक्षा रखता है, बिना पदार्थों के यथावत् ज्ञान के व्याप्तिज्ञान होना नितान्त असम्भव है।

● ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल

सद्गुरु और उनकी महान् सम्पदा

[ब्र० श्री पालीवालजी का प्रस्तुत लेख जिसमें सद्गुरु सम्पदा और उसके अधिकारी पात्र की सही रूप से विवेचना की गई है हम सबके सामने एक वैचारिक-दर्पण के रूप में अवस्थित है। काश, इसमें हम सभी साधक अपने स्वरूप दर्शन का प्रयास कर सकें। —सम्पादक]

●

प्रायः सभी सद्गुरुओं के पास दो प्रकार की सम्पदाएँ देखने में आती हैं। एक अध्यात्म अर्थात् दैवी सम्पदा तथा दूसरी भौतिक सम्पदा धन-सम्पत्ति। इन दोनों सम्पदाओं में मुख्य कल्याणकारी तो अध्यात्म सम्पदा ही होती है; भौतिक सम्पदा तो गौण तथा विपत्ति का कारण होती है। और यह भौतिक (धन) सम्पदा तो अध्यात्म सम्पदा के धनी सद्गुरुओं को संसारी लोग अध्यात्म साधना करने वाले साधकों के सहयोग के लिए दिया करते है। उनका यह सहयोग, वस्तु, जमीन आदि के रूपमें होता है जिसका उपयोग सद्गुरु आश्रम की आवश्यकता की पूर्ति हेतु किया करते हैं। अपने निजी भोग-विलास के लिए नहीं। यह भी देखनेमें आता है कि जिन सद्गुरुओं के पास, अध्यात्म सम्पदा नहीं होती उन्हें भौतिक धन सम्पदा भी कोई नहीं देता। वे संसारी लोगों से धन की मांग करते पाये जाते हैं। जबकि अध्यात्म सम्पदा के धनी सद्गुरुओं के पास स्वयं संसारी लोग धन, सम्पत्ति लेकर उनके चरणों में चढ़ाते हैं। उनकी सेवा में भेंट करते हैं।

अध्यात्म की भाषा में भौतिक धन को लक्ष्मी कहा जाता है। इसीको पुरुष पुरातन की वधू चंचला कहा जाता है। लक्ष्मी भगवान विष्णु नारायण की पत्नी है। नारायण के चरणों की दासी व सेविका है। किसी अन्य की नहीं। नारायण सत् स्वरूप है और लक्ष्मी सौन्दर्य रूपा। हर व्यक्ति धन लक्ष्मी के रूप सौन्दर्य को देखकर मोहित हो जाता है और लग जाता है इस प्रयत्न में कि मैं भी लक्ष्मी का पति अर्थात् धन-पति बन जाऊँ। लक्ष्मी तो पति रूप में नारायण को ही वरण करती है बाकी अन्य लोगों को तो अपने वाहन के रूप में ही स्वीकार कर सकती है।

जिन सद्गुरुओं के अन्दर भगवत्ता अर्थात् नारायण सत् रूप से प्रगट हो जाते हैं उन्हीं की सेवा के लिए लक्ष्मी भी स्वतः ही चलकर पहुँच जाती है। सत्गुरु का अर्थ है जिसमें सत्-गुण सत्यनारायण प्रगट हो गये हैं। जब सत्गुरुओं के पास उनकी सेवा के लिए धन लक्ष्मी पहुँच जाती है तो उनका ऐश्वर्य, वैभव बढ़ जाता है। यह ऐश्वर्य से ईश्वर शब्द बना है। जहाँ ईश्वर है वहाँ ऐश्वर्य भी हो जाता है। सद्गुरु में जब ईश्वर प्रगट हो जाता है तो फिर ऐश्वर्य भी छाया की तरह उसके साथ-साथ रहता है।

ईश्वर-स्वरूप सद्गुरु जब संसार से चले जाते हैं तो उनका ऐश्वर्य, वैभव, धन, सम्पत्ति यहीं का यहीं रह जाता है, और सद्गुरु अपने ब्रह्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं। अब

सद्गुरु भगवान तो लौकिक धराधाम को छोड़कर अपने नित्य परमधाम को चले गये, अब रह गई उनके पीछे आई धन-लक्ष्मी सम्पत्ति। धन-लक्ष्मी को, सम्पत्ति के बिना मानो उसके मालिक, पति के बिना अकेली देख सबके अन्दर उसे अपनी सेविका, दासी बनाने और स्वयं उसके मालिक—स्वामी बनने की लालसा जाग्रत हो जाती है। जब एक धन-सम्पत्ति रूप। लक्ष्मी को, अपना बनानेके दावेदार कई हो जाते हैं तो संघर्ष का कारण बन जाती है, यह धन-लक्ष्मी। फिर तो "सीय स्वयंबर भूप अनेका" वाली बात सामने आ जाती है। सीताजी के स्वयंवर में महाबली, कर्मकाण्डी, वञ्चक पण्डित, लंकापति रावण भी गया था। और भी अनेकों भूप गये थे, धनुष-यज्ञ एक प्रकार की शक्ति-परीक्षा थी, और उस शक्ति परीक्षा में रावण महाबली के साथ-साथ सभी भूप पराजित हुए। वहाँ भगवान राम को उस दैवी शक्ति स्वरूप सीता ने शक्तिवान के रूप में अपना पति स्वीकार किया। जब रावण शक्ति परीक्षा में पराजित होकर सीता को न पा सका तो वह छल के द्वारा साधु का भेष बनाकर सीता को छलकर लंका में ले गया और उसने साम, दाम, दण्ड, भेद के अनुसार सभी प्रयत्न किये सीता को अपना बनाने के लिए। जिसके फलस्वरूप रावण अपनी धन-सम्पत्ति, पत्नी और अपनी जान को गँवा बैठा। सर्वनाश हो गया रावण का भगवान की सीता-पत्नी को अपनी पत्नी बनाने के चक्कर में। कहने को रावण महाबली होने के साथ-साथ महापण्डित चारों वेदों का ज्ञाता था। लेकिन वह ज्ञानी नहीं महा अज्ञानी ही अपनी करतूतों से सिद्ध हुआ।

संसार में संघर्ष और झगड़े के मूलतः तीन कारण बताये गये हैं। जर, जमीन और जोरू। जर अर्थात् धन-चल सम्पत्ति। जमीन अर्थात् अचल सम्पत्ति और जोरू अर्थात् स्त्री। ये तीन तो कहने को हैं, पर हैं ये तीन रूप एक के ही। पृथ्वी को माता, जननी कहा है, पृथ्वी अचल धन लक्ष्मी है। स्त्री चंचला है, धन-लक्ष्मी भी चंचला है। इस प्रकार तीनों ही का एक स्त्री रूप है। हर व्यक्ति तीनों का मालिक, स्वामी बनने के लिए ही झगड़ता है। लेकिन मूढ़, अज्ञानी, नासमझ लोग इस बात को नहीं समझते कि धन-लक्ष्मी सम्पत्ति किसकी है, किसके लिए है वह तो जिसकी है उसीकी रहेगी। हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी वह हमारी कभी नहीं हो सकती, 'ईशावास्य' उपनिषद् में इसी बात की चेतावनी देते हुए कहा गया है कि यहाँ संसार में सब कुछ परमात्मा का है; किञ्चित्मात्र भी किसी अन्य का नहीं। इसलिए परमात्मा की वस्तु परमात्मा की ही समझकर त्याग भाव से उसका उपभोग करो। परमात्मा के इस संसार में भूपति अर्थात् इस पृथ्वी को अपनी पत्नी और स्वयं को पृथ्वी पति—स्वामी बनने वाले अनेकों 'मैं'—'मेरी' कर-करके चले गये लेकिन यह "वसुधा काहू की न भई" के अनुसार किसी की भी नहीं हुई। यह जिसकी थी उसकी ही रही।

भगवान् विष्णु के परमभक्त नारद की भी एक कहानी इस बात को प्रमाणित करती है कि परम विरक्त अखण्ड ब्रह्मचारी नारद भी विश्व मोहिनी लक्ष्मी के स्वयंवर में भगवान विष्णु से ही छिपाकर नारायण का रूप लेने आये, भगवान विष्णु नारद के मन की कामना को समझ गये और उन्होंने अपने परम भक्त नारद को नष्ट होने से बचाया।

अपने वचनों का पालन करने के लिए जैसा कि भगवान ने स्वयं कहा है 'न मे भक्त प्रणश्यति' अर्थात् मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता तो भगवान विष्णु ने अपने परम भक्त को अपना रूप न देकर बन्दर का मुँह कर दिया नारद का। नारद बन्दर का रूप लेकर विश्वमोहिनी लक्ष्मी के स्वयंवर में पहुँच गये। नारद इस बात को भलीभाँति जानते थे कि लक्ष्मी नारायण के सिवा किसी अन्य को वरण करती ही नहीं। इसीलिए नारायण से वे नारायण का रूप माँग लाये। नारद मन ही मन समझ रहे थे कि मेरा रूप नारायण का है, लेकिन था उनका रूप बन्दर का। नारद के बन्दर रूप को देखकर लक्ष्मी ने नारद की तरफ देखा तक नहीं। और जब नारायण स्वयं स्वयंवर में पहुँच गये तो लक्ष्मीजी ने नारायण के गले में जयमाला डाल दी। नारदजी के पीछे खड़े शंकर गणों ने नारद का उपहास करते हुए कहा, कि 'बन्दर की शक्ल लेकर लक्ष्मी को वरण करने आये हो!' भगवान ऐसे लोगों को जो धन, लक्ष्मी के पीछे उसे अपना बनाने को दौड़ पड़ते हैं उन्हें बन्दर ही बना देते हैं, जो दिन-रात धन के पीछे भागते रहते हैं।

थोड़ा विचार करें कि जब नारद जैसे नारायण के परम भक्त को भी धन-लक्ष्मी के चक्कर में पड़कर दुर्दशा हो सकती है तो हमारी आपकी गिनती किस में है! यह अकाट्य सत्य है कि लक्ष्मी नारायण की है और वह उनकी ही रहेगी। हम नाहक उसे अपना बनाने की बहुत बड़ी भूल करते हैं। हाँ लक्ष्मी अपनी सवारी के लिए वाहन के रूप में उल्लू को भी वरण करती है। जब जगत से सद्गुरु भगवान चले जाते हैं तब असत् लोग उनके नाम को भी हटाकर अपने नाम का गुण-गान कराना चाहते हैं। भगवान के नाम रूप का गुण-गान भी जब लोग नहीं करते-कराते तो ऐसी स्थिति में वहाँ से फिर धीरे-धीरे धन-लक्ष्मी भी सबको उल्लू बनाकर नारायण के पास चली जाती है और सिर्फ उल्लुओं में ही यह विशेषता विशेष रूप से पाई जाती है कि उनको अज्ञान रूपी अन्धकार में ही दिखाई देता है, सूझता है, उनकी सारी सूझ-बूझ अज्ञान मूलक ही होती है। ज्ञान के प्रकाश में तो उन्हें बिलकुल ही नहीं दिखाई पड़ता। ज्ञान और ज्ञानियों का तो वे उल्लू नित्य उपहास ही करते हैं।

नारायण और लक्ष्मी की बिना इच्छा के जो भी लक्ष्मी को और-धन-लक्ष्मी, छल, फरेब, चालबाजी से अपना बनाने की कोशिश करते हैं उनकी दुर्गति, विनाश निश्चित रूप से होता है। इतिहास साक्षी है इसका। जो व्यक्ति दान रूप में भगवान की सेवा के लिए दी गई धन-लक्ष्मी और सम्पत्ति को नारायण स्वरूप गुरु-भगवान की सेवा में न लगाकर अपने व्यक्तिगत अपनी सेवा और भोग-विलास में लगाता है, उसका विनाश तो होगा ही। भला नारायण की पत्नी लक्ष्मी, नारायण का ही विरोध करने वालों की सेवा करे, यह कैसे होगा। जो लोग लक्ष्मी से अपनी सेवा करायेंगे तो क्या भगवान उनकी इस हरकत को बर्दाश्त करेंगे? कदापि नहीं। भगवान राम की पत्नी रावण की पत्नी बनकर सेवा करे, इस प्रकार के रावण का वध भगवान को कर ही देना होता है।

दूसरे प्रकार की सम्पदा सद्गुरुओं के पास अध्यात्म अर्थात् आत्मा और परमात्मा की होती है। यही परम-धन है, परम कल्याणकारी सम्पदा है। लेकिन इस सम्पदा

के लिए कोई कहीं किसी प्रकार का झगड़ा-फसाद देखने में नहीं आता। नारायण के लिए नहीं नारायण की लक्ष्मी को पाने के लिये ही सारी दुनिया में संघर्ष देखने को मिलता है। नारायण पर अपना हक, दावा कोई नहीं करता। क्योंकि नारायण मेरे हैं इसका कारण नारायण को पा लेना सस्ता सौदा नहीं, नारायण मुफ्तमें बिना कुछ ध्यान, जप, साधना किये मिलते भी नहीं। नारायण को पानेके लिए तो संसारी धन, सम्पत्ति, घर, जमीन और जोरू सबका त्याग करना पड़ता है। सत्य और तप बल से नारायण मिलता है। नारायण ऐसा डरा-पड़ा नहीं है कि वह हर एक को यों ही मुफ्त में ही मिल जाय। और बड़े रहस्य की बात यह है कि नारायण को पाने वाले को तो लक्ष्मी मिलभी जाती है लेकिन लक्ष्मी को पाने वाले को न लक्ष्मी मिलती है और न नारायण ही। "माया मिली न राम" सभी तो ऐसे लोग लक्ष्मी के वाहन उल्लू बन जाते हैं और वे उल्लू दूसरों को भी उल्लू बनाते हैं। धन-लक्ष्मी के चक्कर में पड़कर अर्थात् उल्लू बनकर असली गुरु भगवान की आत्म-सम्पदा परम धन को छोड़कर भौतिक सम्पत्ति के लालच में महान विपत्ति में अपने को डाल लेते हैं और ये सब सद्गुरु भगवान की सम्पदा से नितान्त वंचित रह जाते हैं।

सद्गुरु भगवान, सद्रूप, चित्त रूप और आनन्द रूप सच्चिदानन्द जैसे परम धन को अपने शिष्य को देता है और उससे इस नश्वर, मायावी, दुःखदायी संसार को छुड़ा देता है। सद्गुरु ज्ञान देता है, प्रकाश देता है, अपनत्व तक अपने प्रिय शिष्य को प्रदान कर देता है। सद्गुरु के पास जीवन की परम सम्पदा है देने को। सारी अलौकिक सम्पदा है, लेकिन अज्ञानी, नासमझ, मूढ़ शिष्य इस असली कल्याणकारी सम्पदा को छोड़कर, आनन्द और मुक्तिदायी सम्पदा को छोड़ दुःख-दायी, विपत्तिदायी लौकिक सम्पदा को ही चाहते हैं। जिस प्रकार मछली आटे के भीतर छिपे हुए काँटे को न देखकर आटे के लालच में पकड़ी और मारी जाती है, उसी प्रकार नासमझ लोग भी सम्पत्ति के भीतर छिपी विपत्ति को न देखकर अपने को महान विपत्ति में डाल लेते हैं और मारे जाते हैं बे-मौत। जीवन की यथार्थ, सार्थक सम्पदा को छोड़कर व्यर्थ और निरर्थक के चक्कर में पड़ जाते हैं।

भोज, राजा गोपीचन्द, भर्तृहरि, गौतम बुद्ध, महावीर आदि को सांसारिक सम्पत्ति में छिपी हुई विपत्ति दिखाई पड़ गई इसीलिए तो ये सब राजे-महाराजे भौतिक सम्पदा को निरर्थक और दुःखदायी समझकर इसे त्यागकर उस परमधाम सम्पदा के परम तत्व को पा गये जिससे जीवन का कल्याण और भला होता है।

सद्गुरु भगवान की परम सम्पदा को तो कोई सच्चा गुरु भक्त, सुपात्र शिष्य लहना जैसा ही पा सकता है। सद्गुरु नानकदेवजी ने अपनी अध्यात्म सम्पदा को देने के लिए सुपात्र अधिकारी शिष्य का, चयन किस अद्भुत ढंग से किया। अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी का चयन किस प्रकार योग शक्ति से किया। प्रस्तुत है गुरु नानकदेव की लीला-प्रसंग से पूर्ण का यह प्रसंग :

लहना नामक व्यक्ति सद्गुरुदेव नानकदेवजी से अध्यात्म सम्पदा को पा गया और शिष्य से वह गुरुदेव ही हो गया इसका नाम नानकदेवजी ने अङ्गददेव रखा। लहना

गुरुदेव की परम सम्पदा को पाकर निहाल और कृतार्थ हो गया। सद्गुरुदेव की परम सम्पदा को पाकर शिष्य गुरु हो ही जाता है। लेकिन शिष्य गुरु होता तब ही है जब वह सद्गुरु की परम योग निधि को पा लेता है बाकी दूसरे लोग तो भौतिक धन-सम्पत्ति के चक्कर में पड़कर इस कहावत को ही चरितार्थ करते हैं कि—

"आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास"

× × ×

गुरु नानकदेवजी के जीवन का अवसान काल समीप था। उन्हें उत्तराधिकारी की तलाश थी। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीचन्द एक तपोनिष्ठ साधक थे और लोगों का अनुमान था कि गुरुदेव उन्हें ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करेंगे। लेकिन गुरु नानकदेव जैसे युग-पुरुष विश्व पुरुष किसी संकीर्णता में तो बँधे होते नहीं, नानकदेव योग्यतम व्यक्ति का चयन करना चाहते थे। सत्सङ्ग भवन में कुछ देर मौन बैठे रहे फिर एकाएक उठे और पागल की भाँति सुनसान जंगल की ओर भाग खड़े हुए। उपस्थित भक्तजन भौंचक्के रह गए। अनेक लोगों ने उनका पीछा किया। गुरुदेव रुके और पीछा करने वालों पर ईंट पत्थर फेंकना शुरू कर दिया। कुछों को चोट भी लगी अनेक लोग गुरुदेव के इस अटपटे व्यवहार पर दुःखी हुए और नाराज होकर अपने-अपने ठिकानों की राह पकड़ी। गुरुदेव ने फिर दौड़ना शुरू किया। साहसी कुछ शिष्यों ने हिम्मत नहीं हारी, वे फिर पीछे लग गये। और नानकदेवजी ने अपनी योगशक्ति से अशर्फियों की बौछार शुरू करदी। यह मार सबसे अधिक कठिन थी, लोग सोने की चकाचौंध से अन्धे होकर अशर्फियाँ बटोरने लग गये। मुफ्त का माल था और वह भी बिना माँगे मिल रहा था। उन्होंने अवश्य ही सोचा होगा कि गुरुदेव ने इस लीला द्वारा अपने सर्वप्रिय शिष्यों को मालामाल करने की कृपा की है।

गुरुदेव फिर भागे! सभी भक्तजन पीछा करना छोड़ चुके थे लेकिन अब सिर्फ एक ही भक्त पीछे लगा था—लहना। गुरुदेव जितना तेज भागते लहना भी उसी गति से उनके पदचिह्नों का अनुसरण कर रहा था। न आगे निकलने की कोशिश करता था और न एक भी पग पीछे धरता था। हाँ बीच-बीच में रुक रुककर जहाँ भी गुरुदेव के चरण पड़ते वहाँ की धूल मुट्ठी में भरकर अपने सिर पर डाल लेता। भागते-भागते गुरु-शिष्य दोनों पसीने में तरबतर हो गये।

गुरु नानकदेव यकायक फिर रुके, पीछे मुड़े, लहना भी ठिठककर जहाँ का वहाँ रह गया। वह सिर झुकाये शान्त खड़ा था उसके मस्तक से खून निकल रहा था, गुरुदेव बोले। अरे लहना! तूने न तो पत्थर की चोट का दुःख माना और न स्वर्ण अशर्फियों के सुख का ही उपयोग किया। सभी ने तो अपने-अपने ठिकानों की राह पकड़ ली, तू क्यों मेरे पीछे पागल की भाँति दौड़ रहा है? तुझे मुझसे अब क्या लेना है? वापस अपने ठिकाने पर जा। लहना का उत्तर था—कैसा पत्थर! कैसा सोना गुरुदेव! आपके चरण रज के प्रताप से आपकी माया ने मुझे नहीं सताया। अब रही ठिकाने की बात, सो मेरा तो आपके चरण कमलों के अलावा दूसरा कोई ठिकाना है नहीं और मैं अपने ठिकाने के ओर ही दौड़ रहा हूँ।

लहना के सर्वतो भावेन समर्पण ने गुरुदेव को भाव-विह्वल बना दिया। अनायास ही

गुरुदेव के मुख से निकल पड़े ये शब्द—"मिल गया लहना।" मिल गया मुझे भी अपना ठिकाना मिल गया। मेरी ज्ञान विधि की सुरक्षा का ठिकाना, योग निधि का ठिकाना मिल गया, यह कहकर उन्होंने लहना को अपनी भुजाओं में भरकर हृदयसे लगा लिया। परमात्म स्वरूप गुरुदेव के अङ्ग-आलिङ्गन से सद्शिष्य पर महान शक्तिपात हुआ।

लहना जब परम शक्ति से सम्पन्न हो गया तब गुरुदेव ने लहना को अपनी गद्दी का योग्यतम उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। अङ्ग-आलिङ्गन द्वारा अपनी परम शक्ति का लहना में सञ्चारण करने के कारण गुरुदेव ने उसका नाम अङ्गद रख दिया। गुरु नानकदेवजी के बाद अङ्गददेव सिख सम्प्रदाय के दूसरे महान् गुरु हुए। उसके बाद परम्परागत ११ गुरु, गुरु नानकदेव की गद्दी पर गुरु के ही बिठाये बैठे। अन्तिम ग्यारहवें गुरु, गुरु गोविन्दसिंह सिख सम्प्रदाय में गुरु नानकदेव की गद्दी पर बैठे और इसके बाद आज तक उनकी गद्दी पर कोई भी गुरु नहीं बैठा। क्यों, इसका कारण क्या रहा जो गुरु की गद्दी आज तक बिना गुरु के रही। मुख्य कारण यही रहा कि गुरु गोविन्दसिंह को सिख समाज में अपने समय में कोई योग्यतम गद्दी का अधिकारी नहीं मिला जो उसे उसी तरह सम्हालता, चलाता जिस प्रकार कि गुरु नानकदेव के बाद अन्य गुरुओं ने उसको चलायी। अन्त में गुरु गोविन्दसिंह ने योग्य गुरु के अभाव में गुरु नानकदेव द्वारा रचित गुरु ग्रन्थ को ही गुरु की गद्दी पर बिठा दिया। और आज तक गुरुग्रन्थ ही को गुरु नानकदेव जैसी ही इज्जत, सम्मान, श्रद्धाभाव से पूजा की जाती है। गुरु ग्रन्थ पर जीवित गुरु की तरह ही चँवर डुलाया जाता है। शयन, भोग, आदि सब कुछ उसी तरह किया जाता है जैसे गुरु नानकदेव करते रहते थे। नित्य निरन्तर प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में चार बजे गुरु वाणी का गायन किया जाता है। गुरु की वाणी को निरन्तर सुना और सराहा जाता है।

सिख सम्प्रदाय की मान्यता है कि गुरु की वाणी ही यथार्थ में गुरु है, ज्ञान तो ज्ञान का प्रकाशक है, जो अज्ञान अन्धकार को दूर करता है। और तबसे लेकर आज तक सारा सिख समाज गुरुवाणी से ही अनुशासित है। वह गुरु वाणी को ही यथार्थ में गुरु का स्वरूप मानता है, और ऐसा सत्य है भी। गुरुवाणी गुरु का शब्दमय स्वरूप है। जैसे शब्द ब्रह्म है, वैसे ही गुरु-वाणी ही गुरुमय है।

इस प्रकार सद्गुरु का आत्म-परमात्म ज्ञान ही असली कल्याणकारी सम्पदा है। उसी सम्पदा को पाने के लिए हम सद्गुरु के पास जाते हैं। क्योंकि यह सम्पदा सद्गुरुओं के अलावा किसी अन्य पर होती भी नहीं। जो इसको पाता है वही निहाल हो जाता है बाकी भौतिक सम्पदा पाने वालों का तो हाल बेहाल हो जाता है।

★ जीवन और मृत्यु में, सुख और दुःख में ईश्वर समान रूप से विद्यमान है। समस्त विश्व ईश्वर से पूर्ण है। अपने नेत्र खोलो और उसे देखो।

—स्वामी विवेकानन्द

आचार्य डॉ. श्री शुकरत्नजी उपाध्याय

एक विवेचन—

—: ध्यानयोग :—

पद्मासन या सिद्धासन लगाकर निर्गुण या सगुण परमात्मा का ध्यान करना 'ध्यानयोग' कहलाता है। इसके अभ्यास से स्थिरता, शान्ति, आत्मविश्वास, दुःसह कष्ट में धैर्यभाव, जीवन और सृष्टि के शाश्वत् नियमों का साक्षात्कार, जीवन और व्यवहार में अद्भुत सन्तुलन एवं सामञ्जस्य आदि महत्वपूर्ण बातें प्रकट होने लगती है।

चित् शक्ति तो सदा ही शुद्ध है, किन्तु दर्पण के सम्मुख स्थित जपापुष्प के रक्तिम की भाँति उसके समक्ष रज, तमयुक्त पदार्थों का प्रतिबिम्ब-रूप प्रभाव पड़ता है। चित्त शुद्धि ही ध्यानयोग का मुख्य फल है। समाधि-सिद्धि में बाधक तत्त्व विक्षेप कहलाते हैं। मनुष्य के चित्त में अनेक जन्मों से अर्जित सहस्रों वासनाएं संचित हो गयी है। योग के द्वारा ही वासना जाल का निराकरण होता है। समस्त दोषों के मूल कामनाओं का उन्मूलन ही योग का मुख्य ध्येय है।

इस क्रम में विषाद और तनाव को दूर करने तथा चित्त में प्रसाद-गुण एवं प्रशान्त-वाहिता स्थापित करने के लिए ध्यान की आवश्यकता होती है, क्योंकि गीता (२/६५) में कहा गया है—

प्रमादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

चित्त-विशिष्ट चेतना को ही जीव कहते है। ज्ञान, इच्छा और संकल्प के सम्पुष्टय के साथ सक्रिय चेतना ही चित्त है। सांख्य और योग के आचार्य अन्तःकरण के तीन भेद मानते है—अहंकार, बुद्धि और चित्त। परन्तु वेदान्त के आचार्य अन्तःकरण के चार भेद मानते है—अहंकार, बुद्धि, चित्त और मन। कार्य-भेद से इनके अलग-अलग नाम हो जाते हैं। साधारण बोलचाल की भाषा में चित्त के स्थान पर मन शब्द से भी काम लिया जाता है। न्यायशास्त्र में महर्षि गौतम ने भी ऐसा ही प्रयोग किया है। उन्होंने नौ द्रव्य गिनाये हैं—पृथ्वी, अप् (जल), तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। वृत्तियों के समूह अथवा निरन्तर प्रवाह का नाम ही चित्त है। अहंकार का अर्थ भी यहाँ घमण्ड नहीं है, 'मैं-पन' की अनुभूति है, बुद्धि निश्चयात्मिका है, संकल्प-विकल्पात्मक मन है। इस प्रकार एक ही अन्तःकरण के कार्य-भेद से अलग-अलग नाम हो जाते है।

चित्त की वृत्तियाँ थमी हुई जब तक एक-रस-प्रवाह बहती रहें, तब तक तो कोई हानि नहीं है। शान्त नदी की धारा की तरह इन्हें बहना चाहिए, पर कभी-कभी इनमें तरंगें उठने लगती हैं, वायु आदि की प्रबलता से शान्त नदी जैसे चञ्चल हो उठती है, उसी

सदा बाहर के प्रलोभनों के कारण चित्त भी उद्विग्न हो उठता है। यह विक्षेप ही चित्त की अशुद्धि है। उस समय यह आवश्यक हो जाता है कि इसे शान्त स्थिति में लाया जाय। इसके लिए श्रद्धा से योगसाधना तथा ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। धैर्य, श्रद्धा और निष्ठा से दीर्घ समय तक निरन्तर अभ्यास करने पर ही साधक को सिद्धि प्राप्त होती है।

विषयों की प्यास ही तृष्णा है। ये तृष्णाएँ ही चित्त की वृत्तियों को चारों ओर दौड़ाती रहती है। असंयमित मन का लक्षण है विषयोंमें सुख की खोज करना। असंयमित मन विषयों की संवेदनाओं से विचलित और क्षुब्ध हो उठता है और अपनी सम्पूर्ण शक्ति को विनष्ट कर डालता है तथा मनुष्य के संगठित व्यक्तित्व के सामञ्जस्य को भी भङ्ग कर देता है। वह अपनी चञ्चलता और अस्थिरता के कारण समस्त विरोधों तथा अवरोधों को तोड़ता हुआ पुनः पुनः विषयों के चिन्तन में ही लगा रहता है। इसलिए मन की इस बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अवरुद्ध करने का उपाय उसके प्रकाशक चैतन्यरूप आत्मा का अनुसन्धान करना है। विषयों की उपयोगिता का विवेकपूर्ण मूल्याङ्कन करने से मन विषयों से हटकर आत्मा में स्थिर हो जाता है। परिच्छिन्न विषय मन को क्षुब्ध करते हैं, जबकि आनन्दरूप आत्मा उसे अनन्त आनन्द से परिपूर्ण कर देता है। वैषयिक इच्छाओं के कारण चञ्चल होनेवाला मन जब ध्यान आदि योगसाधनाओं से शान्त होता है, तब उस स्थिर मन में एक ही अखण्ड ब्रह्माकार-वृत्ति बनी रहती है। इस शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेने पर साधक पुनः संसारमें प्राप्त दुःखों के जाल में नहीं उलझता। इस आनन्द के अनुभव से जीवन ननाव, दुःख, कष्ट और शोकपूर्ण परिस्थितियों में भी निश्चल बना रहता है, जिसमें स्थित होने पर वह महान् क्लेशों से भी विचलित नहीं होता—'यस्मिन् स्थितो हि दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।' इस प्रकार परिच्छिन्न जीवन के दुःख से मुक्ति पाने के लिए आनन्दरूप आत्मा में स्थित होने की आवश्यकता है। वास्तविक सुख इन्द्रियातीत होता है। योग साधना द्वारा मनुष्य अपने स्वरूप को खोजकर सुखी जीवन का रहस्य जान लेता है। क्षणिक विषय सुखों से इन्द्रियों तथा मन की पूर्ण तृप्ति नहीं होती इस आत्मानन्द के अनुलनीय दिव्य रस का आस्वादन करके वह परितृप्त हो जाता है। स्वप्रकाश सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा में ही स्थायी एवं सच्चा सुख तथा आनन्द है, विषयों में नहीं। सहज शान्ति और आनन्द ही आत्मा का स्वरूप है, क्योंकि आत्मा में शरीर, मन और बुद्धि की उत्तेजना, चञ्चलता और विक्षेप का सर्वथा अभाव है।

तत्त्व साक्षात्कार के लिए तथा चित्त-शुद्ध्यर्थ ध्यानसाधना नितान्त आवश्यक है। 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है इस धातु के अनुसार ध्यान शब्द का अर्थ है—'चिन्तन'। ध्यान या चिन्तन के बिना संसार का कोई भी काम हम सफलतापूर्वक नहीं कर सकते।

चित्त का केवल ध्येयनिष्ठ होना ही ध्यान नहीं है। शरीर और वचन का भी उसके अनुरूप होना आवश्यक है। शरीर वाक्, मन को एक लय में लाने के लिए कुछ सहयोगी साधनों का अभ्यास अत्यावश्यक है। यम और नियम के पालन से जब चित्त पर से विषाद प्रायः हट-सा जाता है, जब शरीर आसनों द्वारा साधा गया होता है, जब मन

प्राणायामकी अग्निसे सुसंस्कृत और पावन हो जाता है तथा इन्द्रियाँ प्रत्याहार द्वारा वश में की गयी हो जाती है तब साधक अष्टाङ्गयोग की, ध्यान से पहले की 'धारणा' नामक छठी अवस्था को प्राप्त करता है, क्योंकि प्राणायाम से श्वास के और प्रत्याहार से इन्द्रियों के वश में हो जाने पर चित्त में विक्षेप की सम्भावना नहीं रहती, अतः वह एक स्थान पर सफलता पूर्वक लगाया जा सकता है। नाभिचक्र, हृदयकमल, नासिका अथवा जिह्वा का अग्रभाग, मूर्द्धा या कोई बाह्य पदार्थ (इष्ट देवता की मूर्तियाँ आदि)—इनमें से कोई भी धारणाका विषय हो सकता है। धारणाके विषयों का कोई अन्त नहीं है।

धारणा में चित्त जिस वृत्तिमात्र से ध्येयमें लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान-प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई और वृत्ति बीच में न आये, तब तैल-धारावत् अखण्ड प्रवाह तथा मन के निर्विषय होने को ही 'ध्यान' कहते हैं।

जब तक ध्याता, ध्यान, ध्येय-रूप त्रिपुटी से भान होने वाली विषयाकार-वृत्तिका समान प्रवाह से बहना प्रारम्भ न हो अर्थात् वृत्ति के बीच-बीच में अन्य वृत्तियां भी आती रहें, तब तक वह धारणा कहलायेगी। जब यह त्रिपुटी से भान होने वाली विषयाकार-वृत्ति व्यवधान रहित हो जाय अर्थात् अन्य विजातीय वृत्तियाँ बीच-बीच में न आवें, किन्तु सदृश-वृत्तियों का प्रवाह निरन्तर बना रहे, तब वह 'ध्यान' कहलाता है। एकतान-गति होने पर ही चित्त की शुद्धि और चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, तभी वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप समझ में आता है और एक सुनिश्चित संशय रहित ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

योगी जब अपने ध्यान से अद्भुत शिखर पर पहुँचता है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय में, ध्याता और ध्येय में द्वंदभाव नहीं रहता, वे कर्पूर ज्योति के समान परस्पर में विलीन हो जाते हैं, केवल ध्येयमात्र ही भासता है और ध्यान का अपना स्वरूप भी लुप्त-सा हो जाता है, तब उसे समाधि कहते हैं। इस समाधि अथवा समाधान दशा में सत्य-ही-सत्य स्फुरित होता है। इसलिए ध्यान समाधि का अव्यवहित पूर्ववर्ती साधन है—

'सम्यगाधीय एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।'

आनन्द की चरमावस्था परम शान्ति समाधि के द्वारा ही प्राप्त होती है, किन्तु समाधि के द्वारा प्राप्त उस आनन्द का वर्णन नहीं हो सकता, उसकी केवल अन्तःकरण से अनुभूति की जा सकती है—'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'—समाधि में आत्मब्रह्म में चित्तवृत्ति के लीन हो जाने से ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अनुभूत नहीं होता, सब वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। अन्त में चित्त का भी विलय हो जाता है—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किंचित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥
(गौडपादिकारिका)

अर्थात् संसार में जो कुछ भी जड़ चैतन्य-रूप द्वैत दिखायी दे रहा है, वह सब मन के कारण है। जब मन समाप्त हो जाता है, तब भेद-भाव भी नष्ट हो जाते हैं और परम शान्ति की अनुभूति होती है। जैसे जब हम गाढ़ निद्रा में जाते हैं, तो परम शान्ति का अनुभव करते हैं, क्योंकि उस समय मन भी सो जाता है। यह आत्म-साक्षात्कार ही जीवन का चरम शिखर तथा योग का सर्वोच्च लक्ष्य है, जिसे अनुभूत कर जीव कृतकृत्य हो जाता है।

कर्मयोग और कर्त्तव्य-पालन

● एक योग साधक की लेखनी से

हरेक मनुष्य को कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान तो होना ही चाहिए। यदि मनुष्य को यह मालूम न हो कि घरवालों के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है, देश या समाज के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है, और स्वयं अपने प्रति भी उसका क्या कर्त्तव्य है, तो उसके अपने जीवन में भी अशान्ति पैदा होती है और समाज तथा देश में भी कलह और क्लेश पैदा होता है। जिससे मनुष्य योग का भी ठीक प्रकार से अभ्यास नहीं कर पाता और उसका गृहस्थ आश्रम भी शुद्ध निर्मल नहीं बनता। जब तक मनुष्य ज्ञान-युक्त कर्म न करता हो तब तक वह योग की सिद्धि को भी प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि उस द्वारा किये गये अकर्त्तव्य उसके योगाभ्यास में बाधा डालते हैं और उसके मन को मैला तथा चित्त को बुरे संकल्पों से विक्षिप्त करते हैं। अतः जो गृहस्थी योगाभ्यास का अभिलाषी है, उसे कर्त्तव्य-ज्ञान का होना भी जरूरी है।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का प्रश्न जब से उठा है तब से संसार में इस प्रश्न पर मत-भेद चला आया है। उदाहरण के तौर पर कई लोग तो यह कहते हैं कि—"चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, अहिंसा का पालन मनुष्य का परम धर्म तथा प्रथम कर्त्तव्य है।" दूसरे लोग कहते हैं कि—"अपनी रक्षा के लिए अथवा दूसरों को भी किसी अत्याचार या अन्यायकारी से बचाने के लिए हिंसा करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है क्योंकि किसी परिस्थिति में भी हिंसा न करने से संसार में अत्याचारियों को प्रोत्साहन मिलता है।" परन्तु अहिंसावादी कहते हैं कि यदि दूसरा व्यक्ति हिंसा करके अकर्त्तव्य का दोषी बनता है, तो हम क्यों उससे प्रभावित होकर अपना कर्त्तव्य (अहिंसा) छोड़ते हैं? उनका कहना है कि यों सामान्य परिस्थिति में तो हरेक सामान्य व्यक्ति अहिंसक ही है, मनुष्य की कर्त्तव्य-परायणता की अथवा अहिंसा-धर्म की परीक्षा तो तभी होती है जब हिंसा की सम्भावना वाली परिस्थिति आती है। अतः वे कहते हैं कि ज्ञानी के शस्त्र तो प्रेम, अहिंसा, मधुर भाषा, सहनशीलता, आदि ही हैं, न कि हिंसा, द्वेष, कटुता व प्रतिशोध की भावना आदि। इसलिए गीता में भगवान् के महा-वाक्य हैं कि—"हे वत्स, कर्म या कर्त्तव्य क्या है और किस कर्म की क्या गति है, इस प्रश्न पर तो पण्डित-जन भी असमञ्जस में पड़े हुए हैं, उनकी बुद्धि भी मोहित है, अतः तू कर्म, अकर्म और विकर्म की गति का ज्ञान स्वयं मुझसे प्राप्त कर और कर्मयोगी बन।"

मनुष्य स्वयं तो अल्पज्ञ है और अविवेक तथा मिथ्या-ज्ञान से भी प्रभावित हो जाता है। अतः कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के बारे में स्वयं ज्ञान के सागर परमपिता परमात्मा

शिव जो सत्य ज्ञान देते हैं, उसे प्राप्त करने से ही मनुष्य तथा समाज का कल्याण हो सकता है और मनुष्य रोग-मुक्त होकर आनन्द का भागी भी बन सकता है। परन्तु आज जब हम कई लोगों को कहते हैं कि आप ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त कीजिए और उसके लिए कुछ समय निकालिए तो वे लोग कहते हैं—ईश्वरीय ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? हम तो ठीक ही चल रहे हैं। परिवार में बाल-बच्चों के प्रति तथा स्त्री के प्रति हमारा कर्त्तव्य है—धन कमाना और उनके कपड़े-लत्ते और खान-पान आदि के लिए आर्थिक प्रबन्ध करना यह फर्ज तो हम अच्छी तरह निभा ही रहे हैं। वैसे भी हम यही कोशिश करते हैं कि किसी को दुःख न दें और किसी से झूठ न बोलें और किसी से ज्यादा मात्रा-पत्र पैसा न ऐंठें। हाँ, बाकी, आजकल के जमाने में थोड़ा-बहुत हेराफेरी तो करनी ही पड़ती है।"

क्या मनुष्य अपना कर्त्तव्य निभा रहा है ?

परन्तु वास्तव में उनका यह कथन तो ऐसा है जैसा कि अपने कर्मों के बारे में स्वयं ही न्याय-घोषणा करना अथवा अपने आपको स्वयं ही कर्म-कुशलता का प्रमाण-पत्र या सफलता-पत्र देना। धर्मराज परमपिता परमात्मा उनके कर्मों के बारे में क्या न्याय देते हैं, जानना तो उस न्याय को है क्योंकि उन्हें कर्म-फल तो उस फैसले (न्याय) के अनुसार ही मिलेगा। इसलिए हम बार-बार कहते हैं कि मनुष्य को कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के बारे में ईश्वरीय ज्ञान होना चाहिए। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए पूर्व-वर्णित उन लोगों का उदाहरण लीजिये जो कहते हैं कि—"हम तो धन कमाकर अपने बच्चों के प्रति तथा स्त्री के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाते हैं और किसी का खून नहीं करते, झूठ नहीं बोलते और दुःख नहीं देते।" ज्ञान के सागर, परम पवित्र परमपिता परमात्मा ऐसे लोगों के प्रति कहते हैं—"आप धन कमाकर बच्चों तथा स्त्री की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने का कर्त्तव्य करते होंगे, परन्तु उनके सामने क्रोध भी तो करते होंगे, उनमें मोह-ममता की भावना प्रदर्शित करते ही होंगे, किन्हीं लोगों के प्रति कुछ निन्दा-सूचक या व्यर्थ के शब्द भी शायद कभी बोलते होंगे ? क्या क्रोध, मोह आदि अकर्त्तव्य नहीं है ? क्या आपको क्रोधादि विकारों से युक्त देखकर विकारों की नकल करने से उन बच्चों का जीवन आगे चलकर दुःखित नहीं होगा ?

इसके अतिरिक्त आप उनकी आर्थिक आवश्यकताओं को तो पूरा करते हैं परन्तु आप उन्हें सदा के लिए रोग, शोक, दुर्घटना, दुर्भाग्य आदि से तो रक्षित नहीं कर सकते ? तो स्पष्ट है कि आपने अपना पूरा कर्त्तव्य नहीं निभाया। बाल-बच्चों के खान-पान का प्रबंध करना या उनके रहने के लिए घर आदि का इन्तजाम करना—यह कोई उच्च कर्त्तव्य या कर्त्तव्य की पूर्णता नहीं है क्योंकि इससे तो अल्पकाल का एकांगी और अपूर्ण ही सुख मिलता है। इस विधि तो एक चिड़िया भी चोंच भर-भरकर अपने नन्हे बच्चों के लिए, जहाँ कहीं से भी हो सकता है, दाना ला देती है और बड़े प्रेम से वह उन बच्चों के मुख में डालती है। वह बहुत परिश्रम करके एक-एक तिनका इकट्ठा करके उनके लिए घोंसला भी बनाती है। जब वह मरती है तो वह घोंसला अपने बच्चों को जायदाद के रूप में दे जाती है। अतः बच्चों को पालने का

जो कर्त्तव्य है, वह तो पशु-पक्षी भी बहुत अच्छी तरह कर लेते हैं। मनुष्य तो सभी प्राणियों में उत्तम माना गया है, तो उसका कर्त्तव्य भी उन सभी से उच्च होना चाहिये। मनुष्य तो आचार संहिता और व्यवहार संहिता को जान सकता है, अतः यदि वह अपने कर्म के साथ धर्म को नहीं जोड़ता, बुद्धि को ईश्वरीय ज्ञान से नहीं संजोता तो उसकी विशेषता ही क्या रही ? अतः अब कर्त्तव्य तो अथवा कर्म, अकर्म तथा विकर्म को जानकर कर्मयोगी बनो तो कर्म में ऐसा बल भर जायेगा कि सदा के लिए सुख-शांति प्राप्त होगी।"

अन्य किसी का खून नहीं किया,
तो आत्मा का गला दबाया होगा।

लोग कहते हैं—"हम किसी का खून नहीं करते।" तेज धार वाले किसी शस्त्र से वे किसी का खून नहीं करते होंगे परन्तु तेज और तीखी तलवार से भी अधिक घातक शब्द तो वे अपने मुख रूपी म्यान से निकाल कर सीधे ही किसी के हृदय का छेदन कर डालते होंगे। जहर से भी अधिक जहरीले या बन्दूक की गोली से भी अधिक घातक बात कहकर तो वे अपने जीवन में कई कोमल हृदयों को आघात पहुँचाते होंगे ? ऐसा भी न करते हों तो वे अपनी आत्मा की शुद्ध आवाज का गला दबाकर आत्मा का हनन तो करते ही होंगे। इससे भी कोई बच गया हो तो कौन गृहस्थी होगा जिसने काम-कटारी चलाकर दूसरी आत्मा (पत्नी) के अखण्ड-ब्रह्मचर्य को खण्ड-खण्ड नहीं किया होगा ? कौन है जिसने अपने नेत्र-रूपी कमान पर काम रूपी बाणों का चिल्ला चढ़ाकर दूसरों की काया पर आक्रमण नहीं किया होगा ? कौन है कि जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि शस्त्रधारी फौजों को अपने हृदय रूपी हवाई अड्डे पर उड़ान देकर, दूसरे के तन या मन रूपी देश पर उतार कर उसे हताहत नहीं किया होगा ?

लोग कहते हैं—"हम झूठ नहीं बोलते। हम किसी को धोखा नहीं देते। हो सकता है कि कोई व्यापारी विक्रय वस्तुओं में मिलावट करता होगा, वह इन्कम टैक्स और सेल्स टैक्स का रजिस्टर ईमानदारी से बनाता होगा या दफ्तर का कोई बाबू दफ्तर का काम दिल लगाकर करता होगा और झूठे बहाने बनाकर छुट्टी लेता होगा, न रिश्वत में किसी से पैसा-धेला लेता होगा, परन्तु आज जो सभी लोग स्वयं को अपने 'देह के पिता की सन्तान' मानते तथा अपनी देह के पिता को को ही 'अपना पिता' बताते हैं, यह क्या छोटा झूठ है ? क्या यह कम आत्म-वञ्चना है ? सारा दिन स्वयं को 'आत्मा' की बजाय 'देह' मानकर चलना—यह क्या मामूली धोखा है ? इस धोखे से तो चोखा नुकसान हो गया है ! स्वयं को परमपिता परमात्मा की संतान न मानने के कारण ही तो अविनाशी एवं अखण्ड सुख रूपी ईश्वरीय सम्पत्ति एवं पालन से वंचित हो गया है।

शायद कोई व्यक्ति आत्मा और परमात्मा को भी मानता होगा। परन्तु मानना एक बात है और पहचानना दूसरी बात है और पहचान तथा मानकर तदनुसार चलना तो विशेष ही बात है ! आज कितने ही लोग ऐसे हैं जो कि परमात्मा की यथार्थ जान-पहचान न होने के कारण कहते हैं कि परमात्मा सर्वव्यापक है अर्थात् वह कुत्ते में, बिल्ली में, सांप में, बिच्छू में, मल में, कीचड़ में और सब में है। उन्हें यह बोध ही नहीं कि वास्तव में परमात्मा सर्वव्यापक होकर भी इनसे अलग और अछूता है और कर्मफल भोग हेतु सब में व्यापक

मानना और सब में आत्मरूप फलभोगी बतलाना गोया अपने परमपिता का अपमान करना, उसकी निन्दा अथवा ग्लानि करना है। अतः कोई व्यक्ति किसी मनुष्य को सर्वव्यापक मानकर परम निन्दा का महापाप तो करता रहा है। वह बड़े से बड़ा अकर्त्तव्य करता रहा है—जो उसे नहीं मालूम। अतः गृहस्थ में रहते हुए अब कर्म-योग की उच्च सिद्धि को प्राप्त करने के लिए जरूरी है कि मन-वचन-कर्म से किसी को दुःख न दो और किसी भी विकार के वश कर्म न करो और स्वयं (आत्मा) को और अपने परमपिता को यथार्थ रीति से जानो। अपने आपको तथा परमपिता परमात्मा को जानना तो मनुष्य का पहला कर्त्तव्य है। इस ज्ञान के बिना तो मनुष्य से अकर्त्तव्य होते ही रहते हैं और वह कर्म-योगी की बजाय कर्म-भोगी और पापी बना रहता है।

पूर्व-काल के अकर्त्तव्य को मिटाने का कर्त्तव्य

अच्छा, मान लीजिए कि इन सभी पापों से भी कोई बचकर रहता है। परन्तु मनुष्य ने पूर्व जन्म में भी तो कोई अकर्त्तव्य किये होंगे? आज जीवन में दुःख और अशान्ति लाने वाली जो परिस्थितियाँ आती हैं, यह तो उससे भी सिद्ध है कि मनुष्य ने पूर्व जन्म में कई अकर्त्तव्य किये हैं, वरना अकारण ही तो दुःख नहीं आ सकता। तो पूर्व-जन्मों में किये गए उन अकर्त्तव्यों के संचय को धोना भी एक कर्त्तव्य है और उनको धोने की विधि को जानना भी तो मनुष्य का एक जरूरी कर्त्तव्य है तथा अपने बच्चों या स्त्री आदि को भी उससे परिचित कराना भी तो उसका कर्त्तव्य है?

फिर आप देखेंगे कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद को जानने के लिए यह जानना जरूरी है कि क्या देह से भिन्न कोई आत्मा नाम की भी कोई अविनाशी सत्ता है और क्या उसका पुनर्जन्म और पूर्व जन्म सत्य है और उसे अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का फल किसी-न-किसी जन्म में मिलता है? क्या इस देह के लोक से भिन्न किसी परलोक या स्वर्ग लोक आदि की भी सत्ता है या नहीं और कि धर्म-युक्त कर्म करने वाले को सुख और अधर्म-युक्त कर्म अर्थात् अकर्त्तव्य करने वाले को दुःख मिलता है? एक प्रश्न यह भी उठता है कि हमारे जो माता-पिता, बहन-भाई, पत्नी-पुत्र आदि हैं, क्या उनसे हमारा यह लौकिक नाता ही एकमात्र—वास्तविक नाता है या इन नातों से भिन्न, श्रेष्ठ और स्थायी कोई अन्य सम्बन्ध भी है? इन सभी बातों को जानने के बाद ही तो उनके प्रति हमारा कर्त्तव्य निर्धारित होता है। अतः यह सभी बातें भी कर्त्तव्य-ज्ञान की परिधि में आ जाती हैं। जब तक मनुष्य यह सारा ईश्वरीय ज्ञान स्पष्ट रूप से प्राप्त न करे, तब तक तो उससे कोई-न-कोई अकर्त्तव्य अथवा पाप होता ही रहता है।

क्या दान-पुण्य करने से मनुष्य का कर्त्तव्य पूरा हो जाता है?

आज कुछ लोग कहते हैं—"गरीबों को अन्न-धन दान देना, रोगियों के लिए औषधालय खोलना, दूसरों की सेवा करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।" परन्तु इस विषय में ध्यान देने के लिए एक नुक्ता यह है कि इतने काल से गरीबों को अन्न-धन आदि दान दिया जाता रहा है, रोगियों के लिए अस्पताल भी खोले जाते रहे हैं, दूसरों की सेवा भी समाज-

सेवक या पड़ोसी या दयालु-वृत्ति के लोग तो करते ही आये हैं। परन्तु फिर भी आज संसार में किस कर्त्तव्य की कमी है कि आज भी रोगियों से अस्पताल भरे पड़े हैं, नये-नये रोग लोगों को हो रहे हैं, करोड़ों लोग आज भी गरीब हैं और लाचार हैं तथा दूसरों की रक्षा तथा सेवा के मोहताज हैं। आज जिस रफ्तार से अस्पताल बढ़ रहे हैं, उसी रफ्तार से जनसंख्या और रोगियों की संख्या बढ़ रही है। अतः यह संसार स्वर्ग तो नहीं बन रहा, जहाँ सब प्रकार के यत्न होने पर भी दुःख और अशान्ति कम तो नहीं हो रही, उनका केवल रूप ही बदल रहा हो, यह हो सकता है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि इस प्रकार की स्थूल सेवा से तो दूसरों को पराश्रयी बनाया जाता है, उन पर कर्मों का और भी अधिक बोझ अथवा ऋण लादा जाता है और कर्मों की जंजीरों में एक-दूसरे को और अधिक जकड़ा जाता है। सर्वोत्तम सेवा तो यह है कि मनुष्य को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान देकर पुरुषार्थ-परायण, आत्म-निर्भर और सत्कर्म करने वाला तथा पूर्वकाल में किये अकर्त्तव्यों को धोने की सामर्थ्य वाला तथा कर्मयोगी बनाया जाय।

अज्ञान की खान !

● जो केवल महत्व या प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ही जीता है, जो केवल मान की ही प्रतीक्षा करता रहता है और आदर-सत्कार होने से ही जिसको सन्तोष होता है, जो पर्वत के शिखर की भाँति सदा ऊपर ही रहना चाहता है और अपने उच्च पद से कभी नीचे नहीं उतरना चाहता, उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसमें अज्ञान की ही समृद्धि है। जिस प्रकार लोग रस्सी में पीपल के पत्ते बाँधकर तोरण बनाते हैं, उसी प्रकार जो अपने दान आदि पुण्य-कर्मों का तोरण बड़े-बड़े शब्दों से प्रस्तुत करके टाँगता है (आडम्बरपूर्ण शब्दों में अपने पुण्य-कर्मों की घोषणा करता रहता है), जो जानबूझकर मन्दिर की चँवरी की तरह सदा सिर उठाये खड़ा ही रहता है, जो अपनी विद्या का विस्तृत वर्णन करता रहता है, अपने पुण्य-कर्मों का ढिंढोरा पीटता रहता है और प्रत्येक कार्य केवल लौकिक कीर्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से ही करता है, जो अपने शरीर का ऊपरी ठाट-बाट बहुत बढ़िया रखता है, परन्तु उन लोगों को सदा धोखे में रखता है जो उसके फेर में पड़ते या उसके अनुगामी बनते हैं, उसे अज्ञान की खान ही समझना चाहिए।

जिस समय वन में दावाग्नि फैलने लगती है, उस समय जिस प्रकार उन वन में रहने वाले समस्त प्राणियों और वनस्पतियों को समान रूप से उसका दाह-संस्कार करना पड़ता है, उसी प्रकार जिसके आचरण से सारे संसार को दुःख भोगना पड़ता है, जिसका सहज भाषण भी सब लोगों को कुल्हाड़ी की तरह आघात करता है और जो अपने छिपे हुए उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए विष से भी बढ़कर घातक होता है, उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसमें बहुत अज्ञान भरा हुआ है।

जीवन कला :–

लेखक–
श्रीमती कमलेश कुमारी शर्मा
एम. ए.

जानिए और समझिए

★ शरीर आत्मा का कार्यक्षेत्र होने के कारण क्षेत्र कहा जाता है। खेत के समान कर्मफल निष्पत्ति का हेतु होने के कारण भी क्षेत्र कहा जाता है।

★ मनुष्य अपने को मैं कहता है। इसका कारण है कि वह उसके शरीर में रहने वाली आत्मा है। आत्मा रूपी चैतन्य शरीर में रहने वाला आत्मा है। आत्मा रूपी चैतन्य शरीर में न हो तो वह मैं कह नहीं सकेगा। इसलिए 'मैं' का अर्थ है आत्मा। परन्तु बहुसंख्यक लोग इस आत्मा को जानते नहीं। वे अज्ञान वश देह को ही आत्मा मानते हैं। यही कारण है कि वे समुचित दिशा न मिलने के कारण शरीर को सार्थक नहीं कर सकते।

★ कठोपनिषद् में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध के निम्न रूपक के साथ समझाने का प्रयास किया है :

'आत्मा रथ का स्वामी–शरीर रथ, बुद्धि–सारथी, मन–लगाम, इन्द्रियाँ घोड़े, विषय–घोड़ों की चरभूमि है।

विवेकी पुरुष कहते हैं कि इन्द्रियों और मन सहित आत्मा भोक्ता है। जिस प्रकार बिगड़ैल चंचल घोड़ा अनाड़ी सारथी के वश में नहीं रहता, उसी प्रकार मन सदा निग्रहहीन और बुद्धि अकुशल हो तो इन्द्रियाँ उसके काबू में नहीं रहतीं।

परन्तु जिस प्रकार घोड़ा कुशल सारथी के वश में रहता है। उसी प्रकार निग्रह युक्त मन के कारण बुद्धि रूपी कुशल सारथी के काबू में इन्द्रियाँ रहती हैं। जिसका सारथी विवेक हो, जिसके अधीन मन हो, वह मनुष्य इस संसार रूपी सागर का पहला किनारा पा लेता है जो परम ब्रह्म का स्थान है।

★ इन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रियों के विषय श्रेष्ठ हैं। विषयों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से भी अधिक श्रेष्ठ आत्मा है क्योंकि आत्मा को ही शरीर रूपी रथ का स्वामी बताया है।

★ देह, इन्द्रियों, मन और बुद्धि का उपयोग कैसे किया जाय। यह मनुष्य के विवेक और कौशल पर निर्भर रहता है। आचार्य विनोबा कहा करते थे—

१—इन्द्रियों को चिन्तन के लिए बाँध रखें।

२—पालन के लिए मुक्त छोड़ें।

३—जीवन-विकास के लिए संयम से सत्कर्म में लगायें। देह इन्द्रियों, मन और बुद्धि का उपयोग यदि सत्कर्मों के सम्पादन में किया जाय तो इससे निश्चय

डॉ० श्री वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी

पुनर्जन्म की एक सत्य घटना

जो अब से ३८ वर्ष पूर्व प्रकाश में आ चुकी है। —सं०

'दद्दा घरै चलो'—यह वचन सुन समीप में बैठे सभी लोग चौंक गये और आगन्तुक सन्ता गड़रिया की ओर सबकी निगाहें उठ गयीं। परस्पर में सब लोग चर्चा में लग गये, किन्तु श्री गोपीनाथ शर्मा, प्रधानाचार्य, साकेत इण्टर कालेज शाहगंज, आगरा ने बात समझ ली; क्योंकि श्री मुरारीलाल शर्मा परीक्षा-आवेदन के लिए जब कालेज में आये थे तो श्री ओमप्रकाशजी अध्यापक ने प्राचार्यजी से मुरारीलाल का परिचय कराया था; तब श्री प्राचार्यजी ने सब चर्चा ध्यान से सुनी थी। आस्तिक-संस्कार होने के कारण उन्होंने घटना की छान-बीन की और इस प्रकार वे उनके चार जन्मों की बातों से परिचित हो चुके थे—फलतः उन्होंने श्री मुरारीलाल को उनके मृतदिन की तिथि पर श्राद्ध में भोजन करने की अनुमति दे दी।

श्राद्ध में प्रत्यक्ष भोजन

यह अद्भुत संयोग है कि मरा हुआ व्यक्ति अपने ही घर में श्राद्ध तिथि को भोजन करता है और पूर्वजन्म की सन्तान श्रद्धाविनत होकर अपने पितर का स्वागत करती है।

उस दिन आश्विन (श्राद्ध पक्ष) में तो श्री गोपीनाथजी की पत्नी ने श्री मुरारीलालजी को वहाँ जाने की अनुमति नहीं दी; क्योंकि वर्तमान पत्नी को यह अच्छा नहीं लगता कि ब्राह्मण शरीर गड़रिये के घर का अधिक संग, खान-पान कुटुम्ब की भाँति करे। आखिर उन्हें वर्तमान सामाजिक वातावरण भी अनुकूल रखना है।

वर्तमान जन्म-परिचय

श्री मुरारीलाल शर्मा—वर्तमान नाम। जन्म-तिथि—पौष कृष्ण ६ विक्रम सम्वत् २००२ अर्थात् २९ वर्ष पूरे करके गत पौष मास में ३०वें वर्ष में प्रवेश कर गये हैं। पिता—श्री मक्खनलालजी, सारस्वत ब्राह्मण। माता—श्रीमती भगवानदेई।

जन्मस्थान—नगर गाँव (फतेपुर सीकरी के पास।

कार्यरत—हाईडिल ६३/११ के० वी०, किरावली सब स्टेशन में एस० एस० ओ० पद पर।

पत्नी—श्रीमती ब्रजलता देवी (बोलता नाम मुन्नीदेवी) है। मुन्नीदेवी ग्राम—नौपुरा (तहसील-सादाबाद के पास जनपद-मथुरा) की है। अभी कोई सन्तान नहीं है।

श्री मुरारीलालजी जब दो ढाई वर्ष के थे तभी अपने को गड़रिया कहने लगे, फलतः इनको डाँटा गया, पर एक दिन वे अपने पूर्व जन्म वाले ग्राम की ओर जानेवाली बैलगाड़ी के पीछे-पीछे चल दिये। साथ में अनेक ग्रामवासी कौतूहलवश पीछे-पीछे चल दिये। वे रसूलपुर गाँव की ओर चले। वहाँ सन्ता

गड़रिया के घर पहुँचे, जो इन्हीं मुरारीलाल के पूर्व जन्म का पुत्र है। आजकल ५० वर्ष के हैं। गाँव में शोर मच गया—'अरे, बुद्धा आ गया, बुद्धा आ गया !' खबर फैलते ही लोगों ने प्रश्नों की बौछार लगा दी, जिसका उत्तर बालक मुरारी अपनी तोतली भाषा में दे रहा था—इनकी पत्नी को सात स्त्रियों के झुण्ड में घूँघट लगा के बिठा दिया गया और कहा गया कि 'अच्छा बच्चे ! तुम अपनी पूर्व जन्म की स्त्री को पहचान लो तो हम जानें कि तुम ही बुद्धा गड़रिया हो।' बालक चुपचाप झुण्ड में बैठी पूर्वजन्म की पत्नी का हाथ पकड़कर ले आया। सब स्तब्ध रह गये। पत्नी ने पूछा तुम कैसे मरे ?

'मैं मोतीझरा की बीमारी से मरो थो'—मुरारीलाल ने कहा।

'जब मरे गे तब उमर कित्ती ई तुम्हारी' पत्नी ने पूछा।

'मेरी ४५-४६ की उमर ई, का भूल गई !' और न जाने उस जन्म की कितनी बातें मुरारीलाल ने उस पूर्व पत्नी के सम्मुख बतलायीं। तब पुत्र और पत्नी की आँखें छलछला आयीं। जब परिवार तथा पड़ोसी भी सन्तुष्ट हो गये तब तो उनसे वहीं रहने का आग्रह किया जाने लगा। इनकी पुत्री भी आ गयी, जिसका नाम 'बतसिया' है।

गड़रिया जीवन का मुरारीलाल का परिवार अभी भी इनसे मिलता रहता है और ये अपने श्राद्ध के दिन पूर्वजन्म के घर में अतिथि बनते हैं।

पूर्वजन्म का परिचय

नाम—बुद्धा गड़रिया, ग्राम—रसूलपुर (फतेपुर सीकरी के पास) पिता—नाम भूल गये। शादी १—इससे लड़का सन्ता है, अब ५० वर्ष का हो गया है। शादी २—लड़की बतसिया—सिंगारपुर ब्याही है। पहली शादी बुद्धा की १४-१५ वर्ष की उम्र में और दूसरी लगभग ३० वर्ष की उम्र में हुई थी।

जब मुरारीलाल की खबर नगर गाँव में पहुँची कि इस बालक ने अपना घर पहचान लिया तो मित्रों तथा अन्य लोगों ने कहा कि इसके पूर्वजन्म की घटना को भुलवाने की कोशिश करनी चाहिए। एक पण्डितजी आये। उन्होंने हवन कराया। अन्य लोगों ने भी उपाय बतलाये और वे किये भी गये, पर 'सुख को कियो सनेह, दुःख दूनो ठाड़ो भयो' वाली कहावत चरितार्थ हो गयी। तेली के कोल्हू पर इन्हें जबरन बैठाया गया। माथे में दर्द प्रारम्भ हो गया और मुरारीलाल अब अपने को लोध्रे जाति का बतलाने लगे।

तृतीय जन्म परिचय

जन्म लोधा जाति में—मुरारीलाल ने अपने को लोधा कहा और पूछने पर निष्कर्ष निकला।

ग्राम—दैतोरा (लोधों का ग्राम), जिला आगरा।

नाम—ब्रजेन्द्र, भाई-शंकर तथा एक बहिन। शादी—नहीं हुई। मृत्यु—१०-१२ वर्ष की अवस्था में चेचक से हुई।

चतुर्थ जन्म-परिचय

ब्राह्मण जाति में—इसके बाद मुरारीलाल ब्राह्मण योनि में आये, पर वे १-१॥ वर्ष ही जीवित रहे, जिसके विषय में बचपन में तो बतलाते थे अब विस्मृत हो चुके हैं। अब वे भारद्वाज गोत्र सारस्वत ब्राह्मण हैं। श्री देवरहवा बाबा के शिष्य—जो मुरारीलाल के जीवन की यह घटना पूज्य देवरहवा बाबा के शिष्य से चली है। पूर्वजन्म में इनका नाम कृष्णमुरारी रामानुज था। इस जन्म के माता-पिता के बारे में भूल चुके हैं। उस जन्म में

वे बचपन से देवरहवा बाबा के शिष्य थे और साधना में आगे बढ़ रहे थे, परन्तु यौगिक साधना में त्रुटि आ गयी और अज्ञान में एक गाय की हत्या कर बैठे ! इस साधुवेष में आयु के ६० वर्ष पूरे करके वे दिवंगत हो गये और उसी घटना के फलस्वरूप इनका जीवन ह्रासोन्मुखी बन गया।

योगिराज देवरहवा बाबा से भेंट

इस वर्तमान जन्म में श्री मुरारीलाल की प्रथम भेंट जब योगिराज देवरहवा बाबा से हुई तो उन्होंने इन्हें तत्काल पहचान लिया और कहा कि—'न मानने का फल मिल रहा है ! अब संयम से रहो।'

बाबा की साक्षी

मेरा परिचय श्री गोपीनाथजी आचार्य के घर उनके भाई श्री राजेन्द्रजी शर्मा ने कराया था। मैंने इसकी चर्चा तत्कालीन आई० जी० पुलिस श्री महेन्द्रसिंहजी से की। विश्रान्त घाट के सामने चतुर्वेदी समाज द्वारा आयोजित धार्मिक अनुष्ठान में भाग लेकर श्री महेन्द्रजी के साथ में हम वृन्दावन गये और वहाँ से यमुना पार जाकर श्री देवरहवा बाबा के दर्शन करने गये। वहाँ मैंने कुछ चर्चा प्रारम्भ की तो श्रीसिंह साहब ने भी जिज्ञासा प्रकट की। तब पूज्य बाबाजी महाराज ने भी इस पर प्रकाश डाला और कहा कि—'धर्म-भ्रष्ट हो जाने के कारण इसकी यह दशा हुई है।' योगिराज ने यह भी कहा कि अब यह आगे का जन्म सुधार लेगा।' मुझे पहले तो यह लगा कि यदि बाबा मुरारीलाल को नहीं पहचानेंगे तो मेरी बात सिंह साहब को जँचेगी नहीं; परन्तु बाबाजी महाराज की साक्षी से मुझ में और भी दृढ़ता आ गयी है।

मुरारीलाल बचपन में चोरी करना, शकुन लेना भी किया करते थे, परन्तु चोरों के डराने से अब इसे भुला बैठे हैं, परन्तु अब भी जब कभी वे आत्मा का साक्षात्कार करते हैं, बहुत-सी बातें उन्हें प्रत्यक्ष दिखलाती देती हैं।

पुनर्जन्म अविश्वासियों के लिए यह घटना चैलेंज तो है ही, अनेक जन्मवाद की स्मृति का ज्वलन्त उदाहरण भी है, साथ ही एक योग-भ्रष्ट की साक्षात् गाथा है।

जीवन-मुक्त—

हर आन हँसी, हर आन खुशी,···!

'नजीर' ने जीवनमुक्त की कैसी बढ़िया तस्वीर खींची है—

कुछ जुल्म नहीं, कुछ जोर नहीं, कुछ दाद नहीं, फरियाद नहीं।
कुछ कैद नहीं, कुछ बन्द नहीं, कुछ जब्र नहीं, आजाद नहीं॥
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं, वीरान नहीं, आबाद नहीं।
हैं जितनी बातें दुनिया की, सब भूल गये, कुछ याद नहीं॥
हर आन हँसी, हर आन खुशी, हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥

कैसा मजेदार होता है यह जीवन, जिसमें हर समय आनन्द, हर घड़ी मौज-मस्ती छायी रहती है।
आनन्द, सानन्द, आनन्द ही आठ पहर, चौंसठ घड़ी !
न किसी बात की चिन्ता, न किसी बात की परवाह।
न किसी का डर, न किसी का भय। 'न ऊधो का लेना, न माधो का देना।'

● स्वामी प्रभुपादजी महाराज

द्वन्द्वातीत योगी

गीतामृत :—

योगिराज श्रीकृष्ण ने द्वन्द्वातीत योगी की परिभाषा इस प्रकार की है :—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

इसका अर्थ होता है—हे अर्जुन जीते हुए मन वाले योगी को परमात्मा नित्य प्राप्त है क्योंकि वह शान्ति लाभ कर चुका है और द्वन्द्वों से बिल्कुल ऊपर उठ चुका हुआ होता है। उसके लिए सुख-दुःख, शान्ति-ताप, मान-अपमान आदि एक समान हो जाते हैं।

परमात्मा के रूप में सब जीवों के हृदय में बैठे श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करना ही जीवमात्र का सच्चा लक्ष्य है। जब मन बहुरंगी माया शक्ति से मोहित हो जाता है, तब जीव जड़ क्रियाओं के बन्धन में पड़ जाता है। अतः जैसे ही किसी एक योगपद्धति के द्वारा मन वश में आता है वैसे ही उसे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा जानना चाहिए। जीव के लिए भगवत्-आज्ञा का पालन अनिवार्य है। परा प्रकृति पर मन के एकाग्रित हो जाने पर तो भगवत्-आज्ञा को शिरोधार्य और कार्यान्वित करने के अतिरिक्त जीव के लिए कोई विकल्प नहीं रहता। मन को तो किसी न किसी उच्च आदेश को मानकर उसका पालन करना है। अतः मन का संयम होने पर जीव स्वाभाविक रूप में परमात्मा का आज्ञा-पालन करता है। श्रीकृष्ण भावनाभावित भक्त को यह स्थिति बिना विलम्ब सुलभ हो जाती है। इसीसे वह सुख-दुःख, शीत-ताप आदि सांसारिक द्वन्द्वों से प्रभावित नहीं होता। यह अवस्था आत्मारामक समाधि अथवा परतत्त्व में निमग्नता है।

× × ×

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

ज्ञान-विज्ञान से तृप्त पुरुष को आत्मज्ञानी योगी कहा जाता है। ब्रह्मतत्व में स्थित ऐसा जितेन्द्रिय मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि पदार्थों में समभाव रखता है।

—★—

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

स्वामी विरजानन्द सरस्वती

ध्यान करते समय थोड़ी कल्पनाशक्ति आवश्यक होती है। खाली असंस्कृत शुष्कभाव और जड़दृष्टि होने के काम नहीं बनेगा। शरीर के भीतर जो षट्चक्र—छः कमल या स्नायुग्रन्थियाँ हैं उनका स्थूल अस्तित्व नहीं है और वे आँखों से दीख नहीं पड़तीं। उनकी कल्पना करके, उन्हें महाशक्ति का आधार समझकर, उनमें इष्टमूर्ति का ध्यान किया जाता है। जितना ही ध्यान प्रगाढ़ और गम्भीर होगा, उतना ही चित्त शुद्ध और स्थिर होगा, और भीतरी प्रसुप्त शक्ति, उतनी ही जाग्रत और विकसित होगी।

× × ×

प्राणायाम आँख मूंदकर करो। जब इष्टमूर्ति का ध्यान न करके नियमित संख्या में जप करो और श्वास प्रश्वास की ओर निगाह रखो। बायें हाथ की अंगुलियों से पेरों पर अंगुली रखते हुए जैसे गिनती करते हैं, उसी तरह से गिनती रखो। श्वास भीतर लेते समय सोचो कि पवित्रता, दया, बलवीर्यादि सद्गुण तुम अपने भीतर खींच ले रहे हो और प्रश्वास छोड़ते समय सोचो कि तुम्हारे भीतर के कुभाव, मलिनता, संकीर्णता, मत्सर पापबुद्धि और सब मैली चीजें बाहर निकाले दे रहे हो।

× × ×

ध्यान करते समय इष्ट मेरे अन्तःकरण में, हृदय कमल पर विराज रहे हैं, ऐसा ध्यान न हो सके तो वे मेरे सम्मुख साकार रूप से कमल या सिंहासन पर अवस्थित हैं इस तरह भी कर सकते हो। पर पहला ज्यादा प्रशस्त और श्रेष्ठ है। कारण, उससे उन्हें अपने अन्तःकरण के भी अन्तर में रखा और देखा जाता है। दूसरे में उन्हें बाहर सोचना पड़ता है। तो भी उन्हें क्रमशः अपने अन्तर में देखने और अनुभव करने की चेष्टा करो। जो जिसे अत्यन्त प्यार करता है, वह उसे अपने अन्तर के अन्तर में ही रखना चाहता है, उसकी इच्छा होती है मानो उसे हृदय के अन्तस्तल में रख दूँ।

"मन तुम देखो और मैं देखूं, और न कोई देखन पाइ।"

× × ×

सुबह-शाम यदि अधिक जप-ध्यान करने का अवसर न मिले तो अन्य समय, जब हाथ में कोई काम न हो, तब बैठकर, लेटे हुए, या खाने के बाद एक दो घण्टा आराम कर लेने के पश्चात् या यदि निद्रा व आलस्य न आये तो शेष-रात्रि में बिस्तर पर बैठे हुए भी कर सकते हो। पर आसन पर बैठकर यथाविधि करने से प्रायः अधिक मनः संयम होता

है। चलते फिरते या कुछ भी काम करते समय, स्मरण-मनन के माफिक मन ही मन जप कर सकते हो। पर ऐसी अवस्था में ध्यान न करो। कारण, अन्यमनस्क होने से कोई दुर्घटना होने की सम्भावना रहती है। समय सबसे अनमोल चीज है, जीवन क्षणस्थायी और अनिश्चित है। एक मिनट भी व्यर्थ न गंवाओ।

× × ×

गुणदोषों से ही मनुष्य निर्मित है। सब में ही थोड़े बहुत अच्छे-बुरे गुण होते हैं। पर में दोष और गलतियाँ न ढूंढकर अपनी ढूंढो। दूसरों के गुणों को और अपने दोषों को बढ़ाकर देखना तथा दूसरों के दोष और निज के गुणों को छोटा करके देखना। मक्खी मवाद से भरे व्रण पर बैठती है और मधुमक्खी फूल पर। परचर्चा से आत्मचिन्तन में क्षति होती है।

× × ×

अवतार पुरुष ही दोष त्रुटिशून्य और सर्वगुणान्वित हो सकते हैं। दूसरों की तो बात ही क्या? सिद्ध पुरुष, आचार्य और सद्गुरु के भी व्यावहारिक जीवन और कार्यों में कुछ न कुछ गलती, दोष और भ्रमप्रमादादि सम्भव है रह सकते हैं। परन्तु उनके सद्गुण इतने अधिक होते हैं कि उनके किंचित् दोष भी भूषण-स्वरूप हो जाते हैं और जो जिसे हार्दिक प्रेम करता है, उसका कुरूप या दोष प्रेमी की नजर में ही नहीं पड़ता।

× × ×

गुरु के प्रति अकपट श्रद्धाविश्वास यदि नहीं हुआ तो आध्यात्मिक जगत् में उन्नति कर सकना मुश्किल ही है। गुरुवाक्य में कभी भी अविश्वास या संशय नहीं करना, गुरु वाक्य को वेदवाक्य ही समझना, श्रीगुरु के उपदेश को बिना सोचे-समझे भी सर्वान्तःकरण पूर्वक पालन करने की चेष्टा करो, समझ रखो कि गुरु के समान तुम्हारा इहलोक और परलोक दोनों का हिताकांक्षी और कोई नहीं। गुरूपदिष्ट मार्ग का निष्ठा के साथ साधन करना ही उनकी यथार्थ सेवा है। उसीसे वे सर्वाधिक प्रसन्न होते हैं।

× × ×

पहले पहले मन में स्पष्ट उच्चारण करते हुए धीरे-धीरे जप करना पड़ता है। इसी से देरी होती है और प्रायः घण्टे में दो तीन हजार से ज्यादा नहीं होता। धीरे-धीरे अधिक अभ्यास होने पर जल्दी होने लगता है, तब प्रति घण्टे आठ दस भी अनायास ही हो जाता है। जप करते समय मन को मन्त्र और मन्त्र के प्रतिपाद्य इष्ट पर एकाग्र करने का प्रयत्न करना चाहिए।

योग सिद्धान्तों का समर्थक और प्रचारक

सिद्धयोग

(उच्चस्तरीय दार्शनिक हिन्दी मासिक)

संस्थापक :

ब्रह्मलीन योगयोगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्रकाशन स्थल :

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सिद्धपीठ सवाई धाम, (आगरा)

गत २४ वर्षों से नियमित प्रकाशित

आप भी इसके ग्राहक-परिवार के सदस्य बनकर गुरुदेवजी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने में अपना सक्रिय सहयोग दीजिए।

वार्षिक मूल्य ४५) रु० पेशगी

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
—गीता ६/४६

अर्थात्

योगी—तपस्वी, कर्मकांडी और शास्त्रज्ञानी आदि सभी से बड़ा होता है। इसलिए हे अर्जुन तू योगी बन।

योगी जीवन के इस बड़प्पन को आप किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं, इसे जानने के लिए 'सिद्धयोग' का नियमित रूप से पढ़ना जरूरी है।

'सिद्धयोग' का प्रत्येक पृष्ठ आपको तथा आपके परिवार के प्रत्येक सदस्य को, चाहे वह बाल, युवा अथवा वृद्ध कोई भी क्यों न हो, सुखी और शाश्वत् आनन्द की प्राप्ति की नई दिशा और आयाम देगा।

★

SIDDHAYOGA—Regd. No. L AG. 008, DECEMBER, 1991

प्रेषक कार्यालय :—

सि | द्ध | यो | ग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ....

कर्त्तव्य पालन का दायित्व

मनुष्य अपने क्षुद्र व्यक्तिगत कल्याण को समस्त मनुष्य-समाज के कल्याण से पृथक न करे, अपने क्षुद्र अहंकार को समाज में विलीन करदे और समाज के कल्याण में ही अपना कल्याण समझकर कर्त्तव्य-निर्णय किया करे। प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण कर्तव्य को करते रहना ही कर्त्तव्यशील लोगों के जीवन का स्वरूप होता है। जीवन के प्रत्येक क्षण कर्त्तव्य-पालन का ध्यान रहना ही मनुष्य का शान्तिपूर्ण विजयी जीवन है। मनुष्य अपनी इस शक्ति को काम में लावे या न लावे, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह अपने मन को प्रत्येक क्षण शान्त रखने में अनन्त शक्तिमान है। मनुष्य को अपनी शान्ति को ही अपने कर्त्तव्य की कसौटी बनाना चाहिए। अपनी शान्ति को ही कर्तव्य की कसौटी रखकर कर्तव्य-निर्णय करने वाले लोग साधारण नहीं होते, वे लोग विश्व-विजयी होते हैं। इस प्रकार के विश्व-विजयी वीर को मानव-समाज का सच्चा सेवक होना अनिवार्य है।

—चाणक्य

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसईकलाँ, ताजगंज, आगरा Ph.360426